हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध दार्शनिक एवं 'गीता का व्यवहार दर्शन' और 'समय की माँग' इत्यादि के लेखक
श्री रामगोपाल जी मोहता

समय की माँग

अर्थात्

कृष्ण की क्रान्ति

निजाम हैदराबाद के आत्मसमर्पण की खुशी मे मनाए गये धन्यवाद दिवस की साँझ के समय कुछ मित्र एकत्र होकर देश की वर्तमान स्थिति पर वार्तालाप कर रहे थे। एक मित्र ने प्रश्न उठाया कि—

पहिला मित्र—हैदराबाद की बहुत ही विकट समस्या का हल अत्यन्त संतोषप्रद रूप में हो गया। क्या अब हमारी सरकार देश में जो घोर आर्थिक संकट हो रहा है, जिससे जनता का जीवन अस्त-व्यस्त हो गया है, उसे दूर करने मे समर्थ होगी?

दूसरा मित्र—इसीलिए सरकार ने अनेक कान्फरेंसे बुलाईं, बहुत-सी कमीटियाँ स्थापित की और अनेक योजनाएँ बनाई हैं।

तीसरा मित्र—कान्फरेंसे बुलाने, कमीटियाँ स्थापित करने और योजनाएँ बनाने मे हमारी सरकार बहुत कुशल है परन्तु जनता की विपत्ति दूर करने और उसको सुखी बनाने मे तो कुछ

भी सफल नहीं हुई। लोगों को बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं कि स्वराज्य होने से देश में पूर्ण रूप से सुख-समृद्धि व सम्पन्नता हो जायगी परन्तु हुआ उससे उल्टा। अँग्रेजी जमाने से मँहगाई बहुत ज्यादा हो गई। जीवन के लिए आवश्यक सभी चीजें मिलनी मुश्किल हैं। खाने-पीने के पदार्थ शुद्ध नहीं मिलते जिससे बीमारियों का जोर दिन-दिन बढ़ रहा है। जालसाजी, धोखेबाजी और लूट-खसोट की भरमार है। सरकारी कर्मचारी रिश्वत के बिना कोई काम नहीं करते। चारो तरफ धांधली मची हुई है। धनी लोग अधिक धनी हो रहे हैं और निर्धन अधिक गरीब हो रहे हैं। हम लोग जो मध्य श्रेणी के हैं उनके लिए तो मृत्यु मुँह पसारे सामने खड़ी दीखती है। इससे तो अँग्रेजी राज्य ही अच्छा था जिसमें पेट भर खाने को तो मिलता था।

मैं—इसमें वर्तमान सरकार का क्या दोष है ? जिनके हाथ में राज्य की बागडोर है वे तो अपनी तरफ से बहुत ही प्रयत्न करते हैं। देश के संकट का उनको जितना फिकर है उतना किसी को नहीं हो सकता परन्तु यह काम ऐसा है कि केवल दो-चार अधिकारियों के हुक्म देने मात्र से नहीं हो सकता। हैदराबाद को ठीक करना उनके आधीन था। फौज को हुक्म दिया और उसने जाकर उपद्रवियों को दबा कर कब्जा कर लिया। परन्तु देश का भीतरी संकट स्वयं देश के लोगों का ही पैदा किया हुआ है और जब तक देश के लोग ही अपना रवैया बदलकर सरकार के उच्च अधिकारियों को सहयोग न दें तब तक यह संकट कभी दूर न

होगा, चाहे वे कितनी ही कान्फरेंसें करें, कमीटियाँ बैठावें और योजनाएँ बनावे।

तीसरा मित्र—तो क्या जनता खुद इस संकट को मिटाना नहीं चाहती ?

मैं—हाँ ऐसा ही है।

तीसरा मित्र—सो कैसे ?

मैं—इस समय देश के प्रत्येक व्यक्ति का एक मात्र ध्येय अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि हो रहा है। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह धनी हो या गरीब; चाहे राजा हो या जमीदार—किसान; चाहे उद्योगपति हो या कारीगर—मजदूर; चाहे राज्य का मिनिस्टर हो या चपरासी; चाहे गुरु हो या आचार्य; चाहे गृहस्थ हो या सन्यासी और चाहे स्त्री हो या पुरुष, सब को अपने-अपने अलग-अलग स्वार्थ सिद्धि की हाय-हाय लगी है। यहाँ तक की अपने थोड़े से स्वार्थ के लिए दूसरों की बड़ी हानि हो जावे तो कोई परवाह नहीं करते। एक दूसरे के संकट में सहायक होने के भाव ही लोगों में नहीं रहे, किन्तु सब कोई दूसरों के संकट से लाभ उठाना चाहते हैं। नागरिकता क्या चीज होती है इसका किसी को ध्यान ही नहीं। यह कोई भी अनुभव नहीं करता कि हमारे कारनामों से नगर पर, समाज पर और देश पर सङ्कट आवेगा, उससे हम भी वंचित नहीं रह सकेंगे। धनी को यही हाविस हो रही है कि सारे समाज का धन मैं ही बटोर लूँ और एक दूसरे से अधिक धनी होने की घुड़दौड़ लगी हुई है।

व्यापारी लोग जनता के जीवन की आवश्यक सामग्री का चोर बाजार करने तथा चोरी से देश की वस्तुओं को बाहर निकालने में ही अपना सारा पुरुषार्थ लगाते हैं। राजा और जमींदार लोगों का लक्ष्य यही रहता है कि जनता को लूट-लूटकर खजाना भर लें और खूब ऐश आराम करें। किसान अपनी पैदावार का दाम निरंतर बढ़ाता रहता है। कारीगर, मजदूर का दावा, काम थोड़ा करना और वेतन अधिक लेने का उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। कांग्रेसी लोगों का दावा है कि "हमने कष्ट सहकर, जेलों में जाकर अंग्रेजों से राज्य लिया है इसलिए राज्य पर हमारा ही स्वत्व है और उससे जितना हो सके लाभ उठाना हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, इसके लिए योग्यता का कोई प्रश्न नहीं। पहले जमाने में राजा लोग आपने बाहुबल से राज्य लेकर प्रजा को लूटते थे, अब हमने राज्य लिया है हम जनता को लूटें तो क्या अनुचित है।" गुरु आचार्य अपने चेलों को और यजमानों को लूटना अपना परम धर्म मानते हैं। संन्यासी सारा बोझ गृहस्थों पर डाले हुए है और गृहस्थ अपना व्यक्तिगत कल्याण सन्यासियों से ऐंठने में लगे हुये हैं। इस तरह सारा समाज ही व्यक्तिगत स्वार्थों की खींचातानी और मारकाट में लगा हुआ है, तो बेचारे सरकार के कर्णधार क्या कर सकते हैं?

दूसरा मित्र—आपका कहना ठीक है। जब सारे देशवासियों की नैतिकता इतनी गिरी हुई है तब बेचारे नेहरूजी अकेले क्या कर सकते है?

पहला मित्र—यह गिरावट दूसरे विश्वयुद्ध के बाद हुई है न ?

मैं—व्यक्तिगत स्वार्थों की प्रधानता तो इस देश में बहुत लम्बे समय से चलती आ रही है, पर दूसरे विश्वयुद्ध ने इस व्याधि को इतना संक्रामक और भयंकर बना दिया है कि इससे न तो कोई बचा है और न इसका कोई पार ही रहा है।

तीसरा मित्र—तो सरकार जनता में नैतिकता और नागरिकता की शिक्षा का प्रचार करके इस व्याधि को मिटाने का यत्न क्यों नहीं करती ?

मैं—यह व्याधि समाज के रग-रग में इतनी समा गई है और इसने इतनी गहरी जड़ जमा ली है कि अब यह साधारण उपचारों से दूर नहीं हो सकती। इसके लिए तो अब बहुत बड़े काट छाँट (Major operation) की आवश्यकता है। वह काट छाँट (Major operation) धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक चारों प्रकार की क्रांति (Religious Social, Economic & Political Revolution) के रूप मे होनी आवश्यक है। क्योंकि इस समय हमारा प्रत्येक व्यवहार, चाहे वह धार्मिक हो या सामाजिक, आर्थिक हो या राजनैतिक, केवल व्यक्तिगत स्वार्थ की दृष्टि से ही हो रहा है। यदि हम धार्मिक कृत्य करते हैं तो उसमें हमारा उद्देश्य केवल व्यक्तिगत कल्याण या पारलौकिक सुख प्राप्ति का रहता है। सामाजिक कार्य करते हैं तो व्यक्तिगत मान-प्रतिष्ठा आदि का लक्ष्य रहता है। आर्थिक

कार्य केवल व्यक्तिगत लाभ के लिए करते हैं और राजनैतिक काम स्वयं सत्ताधारी होने के लिए करते हैं। इसलिए चारों प्रकार की क्रांति एक साथ हुये बिना देश में सुख शांति नहीं हो सकती।

पहला मित्र—हमारे धार्मिक कृत्य भी व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लिए होते हैं, आपकी यह बात तो नहीं जचती। धर्म से तो जगत का हित होता है। "धर्मो रक्षति रक्षिता" ऐसी कहावत है। आप उस धर्म में क्रांति करना चाहते हैं यह बात ठीक नहीं।

मैं—देखो भाई यह संसार परिवर्तनशील है, यानी यह निरंतर बदलता रहता है। इसमे सदा एक-सा कुछ भी नहीं रहता। क्षण-क्षण में बदलते रहना यह प्रकृति का नियम है। जो मनुष्य या समाज इस नियम का सामना करता है, अर्थात संसार की बदलती हुई परस्थितियों के साथ अपनी प्रवृत्ति नहीं बदलता, समय के साथ नहीं चलता, पुरानी प्रथाओं, पुरानी रूढ़ियों और पुरानी मर्यादाओं में जकड़ा रहता है, आगे नहीं बढ़ता, वह पीछे रह जाता है और फिर उसको एक दम जोरदार धक्के से आगे बढ़कर उस कमी की पूर्ति करने को विवश होना पड़ता है। इसी को क्रांति कहते हैं। जिस तरह किसी नदी के प्रवाह को रोक दिया जाय तो पानी इकट्ठा हुआ बहुत बढ़ जाता है तब वह बाँध तोड़कर एकदम तीव्र वेग से वह निकलता है जिससे बाढ़ आ जाती है और बहुत हानि होती है। इसी तरह

जो संसार के परिवर्तन के साथ प्रगति नही करते उनको समय पाकर क्रांति का शिकार होना पड़ता है। प्रकृति स्वयं पीछे की कसर निकालकर अपना हिसाब बराबर (Adjust) कर लेती है।

पहला मित्र—धर्म तो सदा बना रहनेवाला है इसीलिए इसका नाम सनातन है। इसमें परिवर्तन होने की बात आज आपसे नई सुनी।

मै—धर्म शब्द के विषय में लोग बहुत भारी भ्रम में पड़े हुए हैं। लोग तो मजहबों और संप्रदायों को ही धर्म मानते हैं; जैसे हिन्दू धर्म, मुस्लिम धर्म, जैनधर्म, ईसाई धर्म, बौद्ध धर्म इत्यादि। ये धर्म नहीं किन्तु अधर्म है। आर्य सिद्धान्त के अनुसार धर्म वह है जो जगत और समाज को धारण करता है अर्थात् सुव्यस्थित रखता है। जिन मजहबों और सम्प्रदायों के नाम पर मनुष्य-मनुष्य की हत्या करता है, मनुष्य मनुष्य पर पैशाचिक अत्याचार करता है, लूट-खसोट करता है, असहाय अबलाओं पर बलात्कार करके उन्हे भ्रष्ट करता हैं, अबोध शिशुओं और बालकों तक के खून का प्यासा हो जाता है, क्या वे धर्म नाम से पुकारे जाने योग्य है? क्या आप अभी ही कलकत्ता, नोआखाली, पंजाब, सीमाप्रान्त, बहावलपुर और सिंध के राक्षसी काण्डों को भूल गये। ये सब मजहब के नाम पर ही समय-समय पर होते रहते हैं। इन मजहबों को धर्म कहते लज्जा को भी लज्जा आनी चाहिए।

पहला मित्र—ये काण्ड तो धर्मों के असली रहस्य को नहीं समझनेवाले करते हैं। वास्तव में अत्याचार करने की तो सभी धर्म निन्दा करते है और एक दूसरे के साथ प्रेम की शिक्षा देते हैं।

मैं—ठीक है। एक तरफ तो मजहबी पुस्तकें अत्याचार की निन्दा करती हैं और दूसरी तरफ उन्हीं ग्रंथों में उस मजहब को नहीं मानने वालों को नास्तिक या काफिर कहते हैं और उनको दबाने और मार डालने तक की आज्ञा देते हैं। अलग-अलग मजहबों के अलग-अलग कर्मकाण्ड होते हैं, जिनके करने से व्यक्ति को सब प्रकार का सुख होने और मरने के बाद स्वर्ग या बहिश्त मिलने का प्रलोभन दिया होता है और उन कर्मकाण्डों को न करनेवालों को दुख होने और नरक अथवा दोजख में गिरने का भय दिखाया जाता है। इस तरह व्यक्ति का भाव बढ़ा कर व्यक्तिगत स्वार्थों की सिद्धि की कामनाओं से मनुष्य की यथार्थ विचार करने की शक्ति को दबा कर बुद्धि नाश कर दी जाती है।

पहला मित्र—पर वे मनुष्य को आस्तिक बनाये रखते हैं जिससे लोग ईश्वर से डरकर बुरे काम न करें।

मैं—ईश्वर भी प्रत्येक मजहब का माना हुआ अलग-अलग एक स्वार्थी व्यक्ति के रूप मे ही होता है। कोई मजहब उसको क्षीर सागर में शयन करनेवाला अथवा ब्रह्म लोक, गोलोक आदि लोकों में ऐश-आराम से रहनेवाला मानता है; कोई मजहब

उसको चौथे आसमान पर बैठा मानता है। कोई उसे निर्गुण निराकार कहता है इत्यादि। इस प्रकार नाना मजहबों के ईश्वर भी नाना प्रकार के होते है और किसी भी मजहब के ईश्वर का दूसरे मजहब के ईश्वर से मेल नहीं खाता। अपने-अपने ईश्वर को उन लोगों ने अलग-अलग नाम और अलग-अलग आकृति दे रखी है; परन्तु एक बात सब के ईश्वर में समान पाई जाती है।

तीसरा मित्र—वह क्या ?

मैं—सब के ईश्वर एक बड़े राजा बादशाह की तरह खुशामद पसन्द और पक्षपाती होते हैं। भेंट-पूजा (ईश्वर के लिए रिश्वत शब्द कहना ठीक नहीं होगा) आदि से बड़े खुश होवे हैं। कोई व्यक्ति चाहे कितने ही बुरे कर्म करे पर अपने मजहबी ईश्वर का कल्पित नाम रटने, उसकी तारीफ करने, बनावटी रूप से उसकी लाचारी करने, चापलूसी और खुशामद करने से, वह पापी के सब गुनाह माफ कर देता है और भेट पूजा, भोग प्रसाद से तो वह इतना प्रसन्न हो जाता है कि उस भक्त को सदा अपनी सेवा में ही रख लेता है फिर उसको कोई रोकटोक करने या हिसाब पूछनेवाला नहीं, उसपर किसी का अंकुश नहीं। जब इस तरह सहज मे ही ईश्वर प्रसन्न होकर मनुष्य को पापों से मुक्त और निर्भय कर देता है तो फिर अत्याचार करने में उसे डर ही क्या है। एक तरफ जुल्म करके अपने व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्ध किये जावो और दूसरी तरफ इबादत या पाठ-पूजा करके ईश्वर को

अपने हाथ की कठपुतली बनाकर निर्भय हो जावो। वास्तव में संसार में जितने अनर्थ मजहबी ईश्वर, खुदा, या गौड को माननेवाले और मजहबी कर्मकाण्डों में लगे रहनेवाले आस्तिक लोग करते हैं उतना नास्तिक लोग नहीं करते और जो जितना कट्टर मजहबी दीवाना होता है उतना ही वह अधिक खूंख्वार, जालिम, अत्याचारी होता है। इसका नमूना अपने देश में पिछले दो वर्षों में प्रत्यक्ष ही देखा गया है।

तीसरा मित्र—आपने जो बातें कहीं वे तो प्रत्यक्ष ही दीखती है, पर ये मजहबी लोग दान-पुण्य तो बहुत करते हैं जिससे समाज की आवश्यकतायें पूरी होती हैं और व्यवस्था में सहायता पहुँच सकती है।

मैं—मजहबी लोगों का दान-पुण्य भी सब व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के उद्देश्य से ही होता है क्योंकि उनका सारा दृष्टिकोण व्यक्ति भाव पर ही निर्भर करता है। उनके दान-पुण्य का उद्देश्य समाज की सुव्यवस्था का नहीं होता किन्तु इस लोक या परलोक में किसी न किसी प्रकार के स्वार्थ का लक्ष्य रख कर ही होता है। अधिकतर लोग तो दान-पुण्य इसलिए करते हैं कि उसके फल स्वरूप, इस जन्म में या मरने के बाद परलोक में, हमको उससे कई गुना अधिक फल मिलेगा। कई लोग अपने कुकर्मों से होनेवाले पापों को मिटाने के लिए प्रायश्चित रूप से दान-पुण्य करते है। कई मान बडाई प्राप्त करने के लिए करते हैं। कई लोग मजहबी ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए करते हैं और कई अपना अंतःकरण
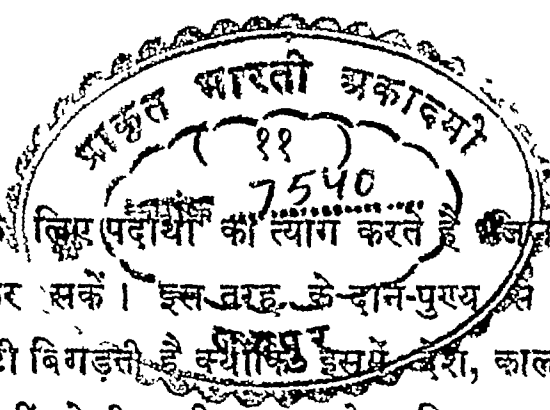
शुद्ध करने के लिए पदार्थों का त्याग करते हैं जिससे व्यक्तिगत मुक्ति प्राप्त कर सकें। इस तरह के दान-पुण्य से समाज की व्यवस्था उल्टी बिगड़ती है क्योंकि इसमें देश, काल और पात्र की योग्यता नहीं देखी जाती, न इससे सात्विक भाव रहता है। बहुत से लोग मजहबी ईश्वर की खुशामद करनेवाले और मजहबी कर्मकाण्डों में लगे रहनेवाले पाखण्डियों व अत्याचारियों को दान देकर परलोक का सौदा करते हैं। बहुत से लोग निरुद्यमी और निठल्ले बैठे रहनेवाले, समाज पर बोझ रूप, साधु-फकीरों को दान दे देकर उनको मालामाल बनाकर, दुराचारी करते हैं। बहुत से लोग मनुष्य-जीवन के लिए अति आवश्यक खाद्य पदार्थों का अपव्यय करके समाज को उनसे वंचित करते हैं, जैसे—कौवों, चीलों, कबूतरों, कुत्तों, मछलियों आदि को अन्नादि पदार्थ खिलाना; नदियों, समुद्रों, तालाबों में दूध, घृत आदि बहाना; पहाड़ों पर दूध गिराना और अग्नि में घृत, अन्न, मेवा-मिष्ठान्न आदि होम कर जलाना; जड मूर्तियों के आगे सैकड़ों मन खाद्य पदार्थों का भोग लगाकर सड़ाना तथा केसर, कस्तूरी, अमर, बरास आदि बहुमूल्य पदार्थों का सेरों के परिमाण में जड़ मूर्तियों पर चढ़ाकर दीन रोगियों को उन दुर्लभ औषधियों से वंचित रखना आदि। बताइये इस तरह के दान-पुण्य से समाज की व्यवस्था कितनी बिगडती है और लोगों को आवश्यक पदार्थ मिलने में कितनी कमी आती है। यह सब धर्म के नाम पर, केवल अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लिए किया

जाता है। क्या इस तरह व्यक्तिभाव बढ़ानेवाले, समाज का संहार करनेवाले कृत्य "धर्म" हो सकते हैं और क्या यही धर्म रक्षा कर सकता है?

पहिला मित्र – तो फिर सच्चा सनातन धर्म क्या है?

मैं--मैंने आपको पहले ही बता दिया है कि आर्य-सिद्धान्त के अनुसार धर्म वह है जिससे समाज का धारण हो और वह तभी हो सकता है कि जब प्रत्येक व्यक्ति अपनी अपनी स्वाभाविक योग्यता के अनुसार अपना कर्त्तव्य कर्म करे। प्रत्येक व्यक्ति या पदार्थ से उसका स्वाभाविक गुण और स्वाभाविक योग्यता होती है। यही उसका धर्म है। मजहब और सम्प्रदाय मनुष्य का स्वाभाविक धर्म नहीं होता किन्तु ऊपर से चिपकाया हुआ होता है जो बदल सकता है। हिन्दू से मुसलमान और मुसलमान से ईसाई आदि बनते रहते हैं। पर स्वाभाविक धर्म सदा धर्मी के साथ रहता है—जैसे जल में शीतलता, अग्नि में ऊष्णता, वायु से स्पन्दता आदि। उसी तरह आँखों का स्वाभाविक धर्म देखना कानों का सुनना, नासिका का सूँघना, जीभ का स्वाद लेना, त्वचा का स्पर्श करना, हाथों का काम करना, पैरों का चलना, वाणी का बोलना, गुप्त इन्द्रियों का मलमूत्र त्याग करना, मन का संकल्प करना, बुद्धि का विचार करना, चित्त का स्मरण करना अहंकार का अहंकार करना आदि आदि। इस तरह शरीर के सब अंगों का अपना-अपना स्वाभाविक धर्म होता है और सब अंगों के समूह शरीर का धर्म भूख, प्यास, सोना, जागना, उठना,

बैठना जन्मना, मरना, क्षण-क्षण में बदलना आदि है। फिर सब शरीरों को धारण करनेवाले आत्मा का स्वाभाविक धर्म सत्-चित्-आनन्द रूप से सब में सदा एक समान, सत्य, नित्य, अज, अविनाशी, अविकारी बना रहना है। उस सत्-चित्-आनन्द स्वरूप सर्वव्यापक आत्मा या परमात्मा का चित्त से सदा चिन्तन करते हुए, अपने पृथक् व्यक्तित्व के अहकार को सब के साथ मिलाकर, सबसे अपनी एकता का आत्म विश्वास रखना और उस एकता का ध्यान रखते हुए सारे समाज की सुव्यवस्था की दृष्टि से, बुद्धि द्वारा कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का निर्णय करके, उस निर्णय के अनुसार मन, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को जगत के व्यवहार में लगाकर अपनी-अपनी योग्यता अनुसार अपने-कर्त्तव्य कर्म करते रहना, यही सच्चा सनातन धर्म है और इसी धर्म का पालन करने से संसार में सुख-शान्ति और सब की रक्षा हो सकती है।

पहला मित्र—अब समझ मे आ गया कि धार्मिक क्रांति से आपका मतलब मजहबों और सम्प्रदायों के भेदों को मिटाकर सबको अपने-अपने स्वाभाविक गुणों की योग्यता के अनुसार, सबकी एकता के ज्ञान युक्त, समाज की सुव्यवस्था के उद्देश्य से अपने-अपने कर्त्तव्य पालन में लगे रहना है, जिससे व्यक्ति गत स्वार्थों की खींचातानी मिटकर समाज मे सुख शान्ति स्थापित हो।

मैं—हाँ। धार्मिक क्रान्ति का यही स्वरूप है। इस क्रांति के बिना, चाहे "ईश्वर अल्ला तेरा ही नाम" आदि के कितने ही जाप जपे जावें, जब तक विशेष नामों और विशेष गुणों वाले ईश्वर या खुदा की मान्यता रहेगी तब तक मजहबी अनर्थ और अत्याचार कभी नहीं मिटेंगे और मनुष्य स्वतंत्र विचार करने लायक भी नहीं होगा।

पहिला मित्र—अच्छा तो अब बताइये कि सामाजिक क्रांति किस तरह होनी चाहिये।

मैं—हमारे हिन्दू समाज में जाति-पाँति के बन्धन इतने कड़े और इतने विस्तृत हैं कि व्यक्ति को अपने जीवन के किसी भी काम में स्वतंत्रता नहीं है। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त नाना प्रकार के सामाजिक बन्धनों में जकड़े रहना पड़ता है। खाना, पीना, उठना, बैठना, किसी स्थान को जाना, आना, रहना, वेष-भूषा, विवाह संबन्ध आदि सभी व्यवहारों में सामाजिक बन्धन लगे हुए हैं। यदि सामाजिक नियमों का थोड़ा-सा लंघन करने का किसी पर संन्देह होता है तो जाति के मुखिया, पंच या चौधरी उस पर मन माना अत्याचार करते हैं। शादी, गमी आदि के अवसरों पर गरीब व्यक्तियों से भी कर्मकाण्डों और जीमनवारों मे जबरदस्ती खर्च करवाकर उसका सर्वनाश करते हैं। इन सामाजिक रीति-रिवाजों का परिणाम यह होता है कि साधारण मनुष्य सदा दीन एवं निर्धन बना रहता है और उसका अमूल्य जीवन सामाजिक बंधनों में ही नष्ट हो जाता है। जाति

के बंधनों के कारण योग्य वरवधू न मिलने से बेजोड़ विवाह होते हैं। दहेज, कन्या विक्रय और वर विक्रय आदि की कुप्रथाओं से समाज का सत्यानाश हो रहा है। समाज के आधे अंग स्त्रियों को इतना पददलित कर रखा है कि उनका समाज मे कोई स्वतन्त्र स्थान ही नही और न उनको किसी प्रकार का अधिकार है। उनको भेड़-बकरियों से भी गई गुजरी कर रखा है। परिणाम यह हो रहा है कि हम लोगों का गृहस्थ जीवन घोर कलह और क्षोभ से परिपूर्ण रहता है और व्यक्तिगत स्वार्थों की खींचातानी बनी रहती है।

तीसरा मित्र—सामाजिक अत्याचारों का जो चित्र आपने खींचा सो तो ठीक है परन्तु इसका उपाय क्या है ?

मैं—जाति-पाँति के भेदभाव बिल्कुल मिटा देना।

पहला मित्र—फिर तो सुव्यवस्था कहाँ ? उल्टी अव्यवस्था हो जावेगी। जिसका जो जी चाहेगा वह उसी तरह करेगा। अनाचार और उच्छृङ्खलता हो जायगी, कोई रोक-टोक नहीं रहेगी।

मैं—क्या अभी जाति-पाँति के बन्धनों के रहते, समाज में बहुत सदाचार या नीतिमत्ता वर्त रही है सो नष्ट हो जायगी ? समाज की जो दशा इस समय है सो अभी मैंने आपको बता दी। इस समय भी व्यभिचार, भ्रूण हत्याएँ, गर्भपात, झूठ, कपट, जालसाजी, आदि दुराचारों का इतना जोर है कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता। छिपे-छिपे दुराचार करने अथवा करके

इन्कार कर देने में तो कोई दोष ही नहीं समझा जाता। अगर कोई कुकर्म चौड़े आ जाय तो जाति के पञ्चों या चौधरियों को रिश्वत देकर शुद्धता प्राप्त कर ली जाती है। स्वयं पञ्च और धनवानों के कुकर्म तो मर्यादा के अन्तर्गत ही माने जाते हैं। हाँ यदि कोई व्यक्ति सच्चा, सदाचारी हो या लोक सग्रह के काम करता हो, जो कि किसी विशेष जाति के संकुचित मर्यादा में न आते हों, तो वह अवश्य ही लांछित और अपमानित करके जाति से अलग कर दिया जाता है और नाना प्रकार से सताया जाता है। क्या आप इसी को सुव्यवस्था कहते हैं, जिसके बिगड़ने और उच्छृङ्खलता उत्पन्न होने का आपको इतना भय है।

दूसरा मित्र—तो इन सामाजिक बुराइयों को सरकार कानून द्वारा क्यों नहीं रोकती? अब तो अपनी सरकार है।

मैं—अरे भाई, प्रजातंत्र राज्य (Democracy) है न। जिस कानून के बनाने में प्रजा के बहुमत का विरोध होता है वह कानून नहीं बन सकता और बहुमत अब तक इन धर्म और समाज के ठेकेदारों का है। अभी एक "हिन्दू कोड बिल" सरकार ने उपस्थित किया था वह भी इनके विरोध के कारण खटाई में पड़ गया। अगर सरकार कानून बना भी दे तो उनसे इच्छित परिणाम न होंगे क्योंकि विधान या कानून जितने बनते हैं वे ऐसे होते हैं कि उनका अधिकतर उपयोग तोड़े जाने में ही होता है। लोग अपनी चालाकियों और धूर्त वकीलों की सहायता से उन कानूनों की

अवहेलना करके भी, बाल की खाल खींचनेवाले न्यायालयों से निर्दोष सिद्ध होकर छूट जाते हैं। अथवा थोड़ा हल्का-सा दण्ड भोग लेते हैं, जिससे समाज की व्यवस्था नहीं सुधरती। वैधानिक कानून बुराइयों को रोकते नहीं किन्तु बुराई करनेवालों को दण्ड देने की व्यवस्था करते हैं जिससे प्रतिगामी लोग नहीं डरते। दलितवर्ग के लोगों पर सवर्ण हिन्दुओं के अमानवी अत्याचारों को मिटाने के लिए महात्मा गांधीजी ने कितना भारी प्रयत्न किया और उपवास करके अपनी जान की वाजी भी लगा दी। सरकार ने कानून भी बनाये। पर धर्म और समाज के ठेकेदार अड़े ही रहे। जहाँ डंडे से काम लिया गया वहाँ ही कुछ सफलता मिली बाकी सब जगह ही राक्षसी अत्याचार ज्यों के त्यों हो रहे है। बात तो यह है कि क्रांति के विना ये बुराइयाँ मिट ही नहीं सकती।

तीसरा मित्र—अगर सरकार चाहे तो सामायिक कानून (Ordinances) बनाकर बुराइयों को बन्द कर सकती है।

मैं—फिर आगे चुनाव मे मत (vote) तो कांग्रेस पार्टी को भी इन्ही लोगों से लेना है न।

प्रथम मित्र—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है उसको कोई न कोई समाज तो अवश्य ही चाहिए। जाति-पाँति मिटाकर उसके बदले में कैसा सामाजिक सङ्गठन होना चाहिए ?

मैं—जिन लोगों के एक से खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार आदि की संस्कृति मिलती है उनका स्वाभाविक ही

समाज बन जाता है। जिनका आपस में प्रेम हो, एक दूसरे के दुख सुख में सहयोग और एकता हो और जो एक दूसरे को दबा कर पराधीन न करे और अस्वाभाविक सामाजिक बन्धनों में न बाँधे, वही समाज सुखदायक होता है। इस तरह के समाज में व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता होती है कि वह किसी से सामाजिक संबन्ध रखे या न रखे। कोई विवशता नहीं रहती।

तीसरा मित्र—यह हुई आप की सामाजिक क्रांति। अब आर्थिक क्राति का स्वरूप बताइये।

मै—इस समय देश की सारी चल और अचल सम्पत्ति इने-गिने बड़े आदमियों याने राजों, महाराजों, जागीरदारों, जमींदारों पूँजीपतियों (Capitalists), उद्योगपतियों (Industrialists), व्यापारियों (Merchants), दिमागी पेशे करनेवाले वकीलों, डाक्टरों, बड़े-बड़े अफसरों, ओहदेदारों, धार्मिक गुरुओं आचार्यों और महन्त मठाधीशों के कब्जे मे हैं और उनमें से बहुत से लोग उसका दुरुपयोग करके अपव्यय करते हैं, धन के जोर से अनावश्यक ऐशो आराम और अत्याचार करते हैं। दूसरी ओर करोड़ों जनता अपने जीवन के लिए अत्यावश्यक पदार्थ भी प्राप्त नहीं कर सकती, यहाँ तक कि आधे पेट, नगे शरीर और सर्दी, गर्मी, वर्षा, धूप में खुले मैदान मे आश्रयहीन जीवन व्यतीत करती है। इस आर्थिक विषमता का अन्त होना चाहिये।

पहला मित्र—तो क्या सम्पत्तिवालों से सारी सम्पत्ति छीन-कर गरीबों में बाँट देनी चाहिए ?

मैं—ऐसा करने से न तो विषमता मिट सकती है और न देश समृद्धिशाली हो सकता है। यदि ऐसा किया जाय तो थोड़े दिनों में सारी सम्पत्ति का अपव्यय होकर देश निर्धन हो जावेगा। मेरा तो यही कहना है कि इस बड़ी एकत्रित सम्पत्ति का इस तरह सदुपयोग होना चाहिये कि जिससे सारे देशवासियों की वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति सहज ही होती रहे।

पहला मित्र—उसकी कोई योजना भी तो बताइये।

मैं—सारे सम्पत्तिवालों की एकत्रित की हुई चल और अचल सम्पत्ति में से उनकी वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति करने लायक सम्पत्ति छोडकर, शेष सम्पत्ति निकलवाकर एक "सार्वजनिक धरोहर" (Public trust) में ले लेना चाहिए और सम्पत्ति वालों को उनकी सम्पत्ति की मात्रा के अनुसार उस "सर्वजनिक धरोहर" के भाग (Shares) दे देने चाहिये। देश के सारे उद्योग-धन्धे, खेती-बाड़ी आदि उस सार्वजनिक धरोहर की पूँजी से चलाये जाये। जो सम्पत्तिवान योग्य होवें उनको उक्त धरोहर के (Trustees), ट्रष्टियों में सम्मिलित किया जावे। उस धरोहर की पूँजी से जितने उद्योग धंधे चलाए जावे, उनमें अनुभवी पूँजीपति, उद्योगपति, व्यापारी तथा अन्य योग्य कार्यकर्त्ता रखे जावें, जिनको या तो योग्यतानुसार उचित वेतन दिया जावे या और किसी प्रकार से निश्चित पुरस्कार दिया जावे और खेती सम्बन्धी उद्योग में जमींदार उसी तरह लगाये जावें। मजदूरों के लिए उनकी योग्यता और काम के हिसाब से उचित

मजदूरी देने के अतिरिक्त जिन उद्योगों में वे काम कर रहे हों, उनके नक्की नफे (Nott proft) मे आधा हिस्सा रखा जाय और शेष आधा हिस्सा उस "सार्वजनिक धरोहर" का रहे। पदार्थों की उपज केवल आर्थिक लाभ (Profit) की दृष्टि से न की जावे किन्तु जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति का मुख्य ध्येय रखा जावे और उनमें लाभ (Profit) केवल इतना ही रखा जावे कि, मजदूरों और कार्य-कर्त्ताओं की मजदूरी और वेतन आदि खर्चे पूरे होकर कुछ हिस्सेदारों को भी मिल सके। देश में रोगियों, अंग हीनों और वुड्ढों को छोड़कर काम करने लायक कोई व्यक्ति निकम्मा न रहे।

पहला मित्र—संसार मे सारे काम लाभ के लिए किए जाते हैं। लाभ के विना काम करने की प्रवृति ही नहीं होगी और तब जनता को जीवन की आवश्यक वस्तुएँ जितनी अब मिलती हैं उतनी भी नहीं मिलेगी।

मैं—लाभ क्यों नही होगा ? मेरी इस योजना मे तो सबको अपनी-अपनी योग्यता और काम के अनुसार लाभ होगा परन्तु वर्तमान की तरह अनाप-शनाप अनियमित लाभ अथवा थोडा काम और अधिक बेहिसाब लाभ, जिसको लाभ नहीं किन्तु लूट कहना चाहिए, न होगी और सट्टेबाजी में भोली जनता का शोषण (cxploitation) न हो सकेगा। जब सारे देश मे क्रांति हो कर लोगों का दृष्टिकोण बदल जायगा और व्यक्तिगत स्वार्थ को ही प्रधानता देने के बदले सारे समाज के स्वार्थ को महत्त्व दिया

जायगा, व्यष्टि को समष्टि में जोड़ दिया जायगा, तो आर्थिक व्यवस्था का ढाँचा ही वदल जायगा और फिर कोई कठिनाई नहीं रहेगी।

पहला मित्र—अव राजनैतिक क्राति के विषय में आप अपने विचार वतलाइये।

मैं—राजनैतिक क्रांति तो अभी हो ही चुकी है और देश में सैकड़ों राजाओं का वशपरम्परागत शासन खतम होकर प्रजा के प्रतिनिधियों के हाथ में राज्य की वागडोर आ चुकी है। इस विषय में इस समय अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं दिखती।

दूसरा मित्र—तो क्या आपके विचार में वर्तमान की राज्य व्यवस्था ठीक है?

मै—इस समय जो नई व्यवस्था बन रही है उसके सिद्धात तो बहुत ही सुन्दर और अति उच्च कोटि के हैं, पर ये सिद्धान्त कार्यरूप में ढल सकें और देश के लोगों की वर्तमान योग्यता को दृष्टि में रखते हुए, यह व्यवस्था टिकाऊ रह सके इसमे वड़ा ही सन्देह है।

दूसरा मित्र—सो क्यों?

मै—किसी भी देश में राज्य-व्यवस्था वही चल सकती है और वही टिक सकती है जो उस देश की प्रजा की वर्तमान योग्यता के अनुरूप हो। जिन देशों की जनता का वौद्धिक विकाश और मानसिक स्वतंत्रता के भाव वढ जाते हैं उनमे वंशपरम्परा-

गत राजाओं का शासन नहीं टिक सकता किन्तु प्रजातन्त्र शासन उपयुक्त होता है, और जिन देशों की प्रजा का बौद्धिक विकाश कम होता है और मानसिक गुलामी बढी हुई होती है वहाँ प्रजातंत्र शासन सफल नहीं हो सकता बल्कि वे लोग स्वतंत्रता के विचारों को भी पसन्द नहीं करते। आपको याद होगा कि काबुल के लोगों ने अमानुल्ला के उदार शासन के विरुद्ध बगावत करके बच्चा सक्का को अपना बादशाह बनाया था। उधर योरुप व अमेरिका के लोगों ने राजाओं को उखाड़ फेंका और प्रजातंत्र राज्य स्थापित कर लिया।

दूसरा मित्र—तो क्या इस देश के लोग प्रजातंत्र शासन के योग्य नहीं हैं ?

मै—इस समय तो यहाँ की जनता धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक गुलामी में इतनी जकड़ी हुई है कि वह स्वतंत्रता का सच्चा तात्पर्य ही नहीं समझती और अपनी भलाई बुराई का यथार्थ निर्णय भी नहीं कर सकती। ऐसी दशा में वह अपनी सरकार क्या चुन सकेगी ?

दूसरा—तो क्या पीछा ही वंश परम्परागत राजाओं का शासन होना चाहिये ?

मै—नहीं। वंश परम्परागत राजाओं के शासन पद्धति का तो इतना व्यतिक्रम हो चुका है कि वह अब पीछी आ ही नहीं सकती।

पहला मित्र—तो फिर क्या होना चाहिए ?

मैं—धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक क्रांति करके प्रजा को स्वतंत्र विचार करने योग्य बनाकर उसे नागरिकता के कर्त्तव्यों और अधिकारों की शिक्षा दी जानी चाहिये। इस तरह जब देश मे सच्ची राजनैतिक जाग्रति हो जायगी, तब जनता अपनी राजनैतिक व्यवस्था स्वतन्त्रतापूर्वक स्वयं चुन लेगी और वही टिकाऊ होगी। जब तक यह नही होता तब तक जनतंत्र की राज्य व्यवस्था नहीं टिक सकती।

पहला मित्र—आप जो क्रांति-क्रांति का पाठ पढाते ही जाते हो, वह क्रांति करेगा कौन ?

मै—पृथ्वी के जिस भाग में जिस समय इस तरह का घोर संकट उपस्थित होकर प्रजा जब अत्यन्त दुखी हो जाती है, तब उसकी सम्मिलित उत्कट इच्छा के फलस्वरूप कोई विशेष महान व्यक्ति उत्पन्न होता है और वही क्रांति करके बढ़ी हुई विषमता को मिटाकर समता के भाव से देश में सुव्यवस्था करके शान्ति स्थापन करता है।

पहला मित्र— लोगों को शिक्षा और उपदेश देकर शान्तिमय क्रांति करता है या मारकाट से ?

मैं—जहाँ शांतिमय उपायों से सफलता होने की योग्यता होती है वहाँ शिक्षा और उपदेशों से काम लिया जाता है और जहाँ ऐसी योग्यता नहीं होती वहाँ डंडे से काम लिया जाता है। संसार मे समय-समय पर ऐसे महान् पुरुष हुए हैं और होते रहेंगे। इस देश के इतिहास में भी ऐसे कितने ही क्रांतिकारी महापुरुष

हुए हैं; उन सब में भगवान् कृष्ण सबसे उच्च कोटि के महान क्रान्तिकारी समत्वयोगी महापुरुष हुए हैं। उन्होंने यथायोग्य शिक्षा और उपदेशों द्वारा साम्यभाव से क्रान्ति कराई और जहाँ आवश्यकता देखी वहाँ डंडे और मार-काट से निःसङ्कोच होकर काम लिया। आर्य संस्कृति के अनुसार प्रतिद्वन्द्वी से निपटने के लिए साम, दाम, भेद और दंड रूप से चार प्रकार की नीतियाँ हैं। पहले पहल शत्रु की बातचीत (Diplomacy) द्वारा समझाने क ी सामनीति बरतनी चाहिए। इसमें सफलता न हो तो कुछ दे लेकर (Give & Take) दाम नीति से निपटना चाहिए। इससे भी न निपट सके तो शत्रु के घर में मतभेद या फूट डालने की भेदनीति का उपयोग करना चाहिए। और जब यह भी विफल हो जावे तो दण्ड यानी लड़ाई करके निपटना चाहिए। भगवान् कृष्ण इसी राजनीति को बरतते थे। कौरवों-पाण्डवों के बीच में समझौता कराने के लिए वे कौरवों की सभा में गए और उन्हें बहुत समझाया, फिर पाण्डवों को सिर्फ ५ गाँव देकर बाकी राज्य कौरवों को रखने की साम और दाम नीति से काम लिया। जब वे नहीं माने तो उनसे अलग-अलग बातें करके भेद डालने का प्रयत्न किया और जब उसमें भी सफलता नहीं हुई तब युद्ध का निश्चय किया गया। इसी तरह शिशुपाल आदि अन्य राजाओं से भी चारों प्रकार की राजनीति बर्ती। अभी हैदराबाद के साथ हमारी वर्तमान सरकार ने भी वही नीति सफलता से बर्ती है।

पहला मित्र—क्या आपके विचार में हमारे यहाँ कोई क्रांतिकारी महापुरुष निकट भविष्य में उत्पन्न होगा ?

मैं—उत्पन्न होगा क्यों ? उत्पन्न तो हुआ-हुआ है पर उसमें क्रांतिकारी भावों की पुनर्जागृति होने की आवश्यकता है।

पहला मित्र—वह कौन है ?

मैं—पंडित जवाहरलाल नेहरू ! सच्चा क्रांतिकारी महापुरुष आत्मज्ञानी होना चाहिये अर्थात् जिसको सारे जगत की ओर अपनी एकता का दृढ़ और अटल निश्चय हो और जिससे अपना व्यक्तित्व और सब व्यक्तिगत स्वार्थ सर्वसाधारण के साथ एक कर दिये हों, जिसमें पूर्ण समता का भाव हो; जो निडर और साहसी हो और जो शक्ति और युक्ति से सम्पन्न हो यानी विचक्षण बुद्धि वाला और आत्मबली हो। उनमें से कई गुण पंडित जवाहरलाल नेहरू में पाये जाते हैं और उनमें क्रांति के भाव भी काफी हैं। यद्यपि उनके वे क्रांतिकारी भाव महात्मा गाँधी जी की महात्माई साम्प्रदायिकता के प्रभाव से कुछ दब गये थे परन्तु अब शनैः शनैः उस साम्प्रदायिकता का प्रभाव कम हो रहा है और पंडित जवाहरलाल नेहरू उस पर उतना अमल नहीं कर रहे हैं जितना कि वे महात्माजी के जीवनकाल में करने को विवश थे। अब देश की शक्ति बढ़ाने पर खूब जोर दिया जा रहा है। जल-सेना, स्थल-सेना और वायु-सेना को बहुत बढ़ाया जा रहा है और उनको अधिक से अधिक घातक, नवीनतम शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित किया जा रहा है। इसके लिए वैज्ञानिक

साधनों की खोज का काम भी हो रहा है। पुलिस की भी जन सख्या बढ़ाने और उसको समयोपयोगी शस्त्रों से सुसज्जित करके समय की आवश्यकतानुसार बनाया जा रहा है। उपद्रव करनेवालों को दबाने और दंड देने मे कोई रियायत या सङ्कोच नहीं किया जाता। हैदराबाद की अराजकता को पुलिस और सेना के बल से ही दबाकर शान्त किया गया। पाकिस्तान को जैसे को तैसे का उत्तर देकर सैनिक शक्ति के प्रदर्शन से ही ठन्डा किया जा रहा है। अन्तर राष्ट्रीय और अन्य राजनैतिक मामलों मे कूटनीति (diplomacy) से काम लिया जाने लगा। देश का आर्थिक संकट मिटाने के लिए, हाथ से चरखा चलाने पर ही निर्भर न रहकर, नदियों तथा जलाशयों से बिजली की शक्ति बहुत बड़े परिमाण में उत्पन्न करने की विशाल योजनाये बनाई जा रही हैं। उस शक्ति से देश मे बड़े-बड़े कल कारखाने चलाये जावेगे और भीमकाय मशीनों से सब प्रकार के उद्योगों का अभूतपूर्व चौतरफा विस्तार किया जावेगा। शायद इसीलिए राष्ट्रीय झंडे से चरखे का चिन्ह हटाकर उसकी जगह चक्र रखा गया है। महँगी और काले बाजार की समस्या को सुलझाने के लिए स्थिति पालकता (Status quo) की नीति को त्याग कर, पदार्थों पर फिर नियंत्रण (Control) आदि करने की दिशा में कदम बढ़ाये जा रहे हैं। जनता की आरोग्यता और स्वस्थता के लिए "राम नाम के जाप की रामबाण चिकित्सा" को स्थान न देकर, नवीनतम चिकित्सालयों (Hospitals) और

समयोपयोगी चिकित्सा पद्धति (Treatment) को पूरी तरह प्रोत्साहन दिया जा रहा है। राष्ट्रीय वेष-भूषा (पोशाक) में केवल शुद्ध खादी की धोती, कुर्ता और टोपी की साम्प्रदायिकता के अनिवार्य व्रत का शायद अब कट्टरता से पालन नहीं किया जायगा। व्रत, उपवास और प्रार्थना सभायें अब राजनैतिक प्रयोजन सिद्धि के साधन नहीं रहे।

पहला मित्र—चरखा कातने में कौन-सी साम्प्रदायिकता है। यह तो देश को आर्थिक दृष्टि से उन्नत करने का उपाय है।

मैं—क्या मशीन और कल कारखानों के इस युग मे आप चर्खा चलाकर देश की आर्थिक समस्या हल करने का स्वप्न अभी तक देख रहे हैं? चर्खा चलाने मे मनुष्य का बहुत अमूल्य समय लगता है और उससे उत्पादन बहुत थोड़ा होता है। क्या मनुष्य के श्रम और समय का कोई आर्थिक मूल्य नहीं है? जो काम मशीनों से मिनटों में होता है वह चरखे से दिन भर मे भी नहीं होता। किसी अर्थशास्त्री से पूछिये तो सही कि वर्तमान समय में चर्खे से देश की आर्थिक समस्या हल होती है क्या? एक देश की आर्थिक उन्नति तो समय के साथ चलने और देश मे कल कारखानों की वृद्धि द्वारा ससारके प्रवाह का साथ करने से होगी। जो माल कल-कारखानों में तैयार होता है वह भी तो देशी ही है। उससे घृणा क्यों? चरखा कातने का नियम भी, नित्य प्रति मालायें फेरने की तरह, एक मजहब बन गया है और इसको आर्थिक रूप दिया जा रहा है। रेल, तार, मोटर, विजली, हवाई

जहाज, रेडियो और परमाणु शक्ति के इस युग में चर्खे ही से सब आर्थिक और राजनैतिक समस्याओं को हल करने का प्रयत्न करना और चर्खे को सुदर्शन चक्र समझना क्या अंध विश्वास नहीं है ?

पहला मित्र—शुद्ध खादी के कपड़े पहिनना अपने देश प्रेम का चिन्ह है और इससे मनुष्य के जीवन में बड़ी सादगी आती है। इससे साम्प्रदायिकता की कौन-सी बात है ?

मैं—खादी के कपड़े पहनना निस्संदेह अच्छी बात है; परन्तु उसी को एक मात्र देश प्रेम की वर्दी मानना उसी तरह है जिस तरह गेरूए रंग के कपड़े साधु सन्यासियों की वर्दी होती है और अलग-अलग सम्प्रदायों की अलग-अलग तरह की वेष-भूषा होती है जिससे वे जाने जाते हैं कि ये अमुक पंथ या सम्प्रदाय के अनुयायी हैं, इसी तरह खादी के कपड़े वालों की भी एक सम्प्रदाय बन गई है। क्या मिल के कपड़े स्वदेशी नहीं हैं, जब कि वे इसी देश के लोगों द्वारा इसी देश से बनते हैं ?

पहला मित्र—मिल के कपड़े हैं तो स्वदेशी परन्तु वे मशीन, कलपुर्जों और मनुष्य की शक्ति के सिवाय भाप, बिजली आदि दूसरी शक्तियों के द्वारा बनते हैं।

मैं—चरखे और करघे भी तो मशीने ही हैं। उनमें भी कलपुर्जे होते हैं। हाँ, वे केवल मनुष्य की शक्ति से चलते हैं और मिलें भौतिक शक्ति से चलती हैं। परन्तु वे भौतिक शक्तियाँ भी मनुष्य के उद्योग से ही उपयोगी बनी हैं। इस युग में भौतिक

शक्ति के उपयोग के बिना जनता के जीवन की आवश्यक वस्तुएँ पर्याप्त संख्या मे प्राप्त नहीं हो सकती। पुराने ढग के हल चलाकर खेती करते रहने से खाद्य पदार्थ पर्याप्त मात्रा मे उत्पन्न नहीं हो सकते। इसीलिए भौतिक शक्ति से चलनेवाले मशीनों के हलों (Tractors) से काम लेने के लिए सरकार ने लाखों करोड़ों रुपए खर्च किए है। मशीनों से बिजली पैदा करके उसके द्वारा सिंचाई का काम करने की बड़ी-बड़ी योजनाएँ बन रही हैं। ढुवाई (Transport) का काम रेलों. मोटरों, जहाजों और हवाई जहाजों की मशीनों से ही लिया जा रहा है। क्या मिलों के बिना केवल हाथ से कते और बुने हुवे कपडे से सारे देश के लोगों को पर्याप्त वस्त्र मिल सकेंगे और क्या हाथ से बुना हुआ कपड़ा सैनिक आवश्यकताओं तथा उद्योग धंधों में बरते जाने वाले कपड़ों के लिए उपयोगी होगा? इस भौतिक उन्नति के युग में ढीले-ढीले धोती, चोले और टोपी की पोशाक, छोटे बड़े कार्य-कर्त्ताओं के लिए कदापि उपयोगी नहीं उतरेगी जिसमे न तो फुरती है, न चुस्ती और न प्रभाव ही है। विशेपकर राज्य कार्य-कर्त्ताओं के लिए तो साधारण लोगों पर कुछ न कुछ तेज का प्रभाव पड़ने की आवश्यकता रहती है। राज्य शासन तेज के बिना स्थाई नहीं रह सकता। पोशाक मे भी तेज या प्रभाव होता है। इस पोशाक मे तेज और प्रभाव की कमी है। ससार के व्यवहार मे वेप-भूषा भी परिस्थिति के अनुकूल होने की आवश्यकता है। सन्त महात्माओं की वेष-भूषा चाहे कैसी ही हो परन्तु राज्य-कर्त्ताओं

की भेष-भूषा तो उनके पद और कार्य के उपयुक्त ही होनी चाहिए, उनके लिए सन्त महात्माओं की वेष-भूषा उपयुक्त नहीं होती। जब फौज, पुलिस, चपरासियों आदि के लिए शानदार वर्दियां की आवश्यकता होती है तो उनके ऊपर के अफसरों के लिए खादी की टोपी, चोला, धोती और चप्पल कैसे ठीक जँच सकती है ? शेष रही सादगी की बात सो सादगी अपने रात दिन के घरेलू जीवन में पूरी तरह रखनी चाहिए। परन्तु सरकारी और जिम्मेदारी के कामों के लिए पोशाक (Official dress) परस्थिति के अनुरूप ही होनी चाहिए। यानी उनकी पोशाक चुस्त, फुरतीली अगों को सुसंगठित, दृढ़ और सुरक्षित रखनेवाली होने के साथ-साथ तेज या प्रभावशाली तथा ऋतु के अनुकूल होनी चाहिए।

पहला मित्र—तो आप विश्व-वंद्य महात्मा गाँधी जी के सिद्धान्तों और कार्यों को कोई महत्त्व नहीं देते, ऐसा प्रतीत होता है।

मैं—यह बात नहीं है। मैं महात्माजी के बहुत से कार्यों को बड़ा ही महत्त्व देता हूँ और उन कार्यों के सम्बन्ध मे उनको एक महान् व्यक्ति मानता हूँ। उनके स्वराज्य आन्दोलन से यहाँ के लोगों में राजनैतिक जागृति के लिए अभूतपूर्व उत्तेजना मिली और कष्ट सहने में लोगों का साहस बहुत बढ़ गया। उनके अहिंसात्मक सत्याग्रह ने अँग्रेजों का हृदय पलट दिया जिससे भारत का साम्राज्य छोड़ने मे उनको आशातीत उतावली करनी पड़ी, पिछले विश्व युद्ध के दुष्परिणामों से पीड़ित और त्रस्त योरुप और

अमेरिका की जनता को महात्माजी के अहिंसा के सिद्धान्त, अमृत की तरह मीठे और सुहावने लगे, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय जगत मे भारत की नैतिकता का बहुत भारी आदर हुआ और उन लोगों पर इसकी बडी अच्छी छाप जम गई जिसके फल स्वरूप संयुक्त राष्ट्रों की सुरक्षा कौंसिल मे उपस्थित किये गए भारत के मामलों को अच्छी सहायता पहुँचने की आशा है। महात्माजी के मनुष्य-मनुष्य में ऊँच-नीच का भेद मिटाने और दलितवर्ग के लोगों पर किए जाने वाले सवर्ण हिन्दुओं के अत्याचार मिटाकर उनको ऊँचे उठाने के लिए जो अथक और अतुलनीय परिश्रम किया और जो अद्भुत त्याग किया और मान अपमान में जो अविचल समता का भाव रखा, वह इतिहास में स्वर्ण अक्षरों से लिखा जायगा। इस विषय में इनके बराबरी का उदाहरण विरला ही मिलेगा और उनके इन कार्यों का गुणगान सदा ही होता रहेगा।

पहला मित्र—तो फिर उनके सिद्धांतों की आलोचना क्यों करते हो ?

मै—आलोचना अनुकूल और प्रतिकूल दोनों प्रकार की होती है और स्वतंत्र विचार करनेवाला मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार जो बात उसे ठीक जँचती है, अनुकूल या प्रतिकूल आलोचना करता है। पर एक महान व्यक्ति के सिद्धांतों और कार्यों के विषय मे तर्क ही न करना, उन्हे आलोचनाओं के परे (infallible) मान लेना तो हठधर्मी है। जिस समाज में बुद्धि का विकास होता है वहाँ तर्क तो हुआ ही करता है और

बड़े से बड़े महापुरुषों के सिद्धान्तों और कार्यों की समालोचना होती है। यहाँ तक कि इस देश मे जिनको ईश्वरावतार माना जाता है, उन भगवान राम और कृष्ण के सिद्धात और कार्यों पर भी नाना प्रकार की टीका-टिप्पणियाँ होती रही हैं और होती रहेंगी। यही तो विचार स्वतंत्रता है और देश की उन्नति के लिए विचार स्वतंत्रता अति आवश्यक है। अंधविश्वास देश की अवनति का कारण होता है।

दूसरा मित्र — यह तो ठीक है।

मैं—कोई भी सिद्धांत या व्यवहार सदा-सर्वदा एक समान उपयोगी नहीं होता। समय और परिस्थिति बदलने के साथ उनकी उपयोगिता भी बदलती रहती है। महात्मा गांधीजी के शांतिमय सिद्धांत और कार्य उस समय के लिए अवश्य ही बहुत लाभदायक थे। और वे अपने समय की परिस्थिति के अनुसार अपना काम कर चुके; परन्तु वह परिस्थिति अब नहीं रही। उनके केवल शांतिमय सिद्धांतों के उपयोग ने देश की समस्याओं और संकटों को अधिक विकट बनाने में सहायता दी है, जिनका सामंजस्य करने के लिए अब क्रांतिकारी उपायों की आवश्यकता है, केवल शांतिमय उपायों से अब काम नहीं चलेगा। यही मेरा कहना है। आशा है पं० जवाहरलाल नेहरू, अब स्वतंत्रता पूर्वक अपने आत्मबल से चौतरफी क्रांति करने में सफल होंगे। इसलिए भगवान कृष्ण के क्रांतिकारी समत्वयोग का रहस्य

हृदयङ्गम करके इस देश की वर्तमान परिस्थिति के अनुरूप उसको कार्य में परिणत करना, उनको सहायक होगा।

तीसरा मित्र—पर अभी आप कह रहे थे कि बेचारे अकेले नेहरूजी क्या कर सकते हैं। प्रचलित ढाँचा बदलने मे बहुत से लोगों के सहयोग की आवश्यकता है।

मैं—अवश्य ही। पर आत्मबली और आत्म-विश्वासी महापुरुष जब लोकहित के लिए किसी क्रांतिकारी कार्य करने के लिए उद्यत होता है तो फिर बहुत से लोग स्वतः ही उसका साथ देने को तैयार हो जाते हैं और बहुत सों पर वह विजय पाकर अपने साथ कर लेता है। जब तक स्थितिपालकता (Status quo) के वैधानिक कानूनों पर पाबन्दी की जाती है तब तक शासन में ढिलाई रहती है और सब लोग अपने-अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को देश हित की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते हैं; परन्तु जब कोई महापुरुष वैधानिक कानूनों की स्थितिपालकता के बन्धनों को काटकर क्राति का शंख फूँक देता है तो क्रांतिकारी भावों के बहुत से व्यक्ति उसका साथ देनेवाले निकल आते हैं इस देश में भी वर्तमान समय में श्री एम० एन० राय और श्री जयप्रकाश नारायण जैसे विश्वविख्यात व्यक्ति ऐसे है जो इस काम मे सफलता पूर्वक नेहरूजी का हाथ बटा सकते हैं और सहयोग दे सकते हैं।

कुछ देर तक सब विचार मे पड़ गए; फिर प्रथम मित्र ने कहा.........

प्रथम-मित्र—यह तो आप हिटलर और स्टालिन की तरह तानाशाही का एकतंत्र शासन (Dictatorship) यहाँ लाने का स्वप्न देख रहे हैं।

मैं—नहीं ! हिटलर और स्टालिन जैसी तानाशाही (Dictatorship) मेरा लक्ष्य नहीं है। हिटलर तो अपने व्यक्तित्व और अपने राष्ट्र की उच्चता के घमण्ड में सारे संसार को दबाकर उस पर अपना शासन स्थापित करना चाहता था और यद्यपि रूस की राज्य व्यवस्था का मुझे पर्याप्त परिचय तो नहीं है परन्तु सुना जाता है कि वहाँ मज़दूर और किसान दल के जोर से साम्यवादी (Communist) साम्प्रदाय की ही मनमानी हो रही है और उस दल के सिद्धांतों को, जनता के हितों की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। पर भगवान कृष्ण का क्रांतिकारी समत्वयोग वैसा नहीं है। वह तो विश्व की एकता और समता के निर्दोष सिद्धांत पर आश्रित है। उसमें व्यक्तिगत अथवा दल या साम्प्रदाय विशेष के अभिमान और विशेष स्वार्थों के लिए अवकाश नहीं है किन्तु उसमें सब के हित की समदृष्टि रहती है। भगवान् कृष्ण ने इतने दुष्ट और अत्याचारी राजाओं को मारा, मरवाया और परास्त किया, परन्तु उनके राज्यों पर न तो स्वयं राज्य किया और न उससे किसी साम्राज्य का निर्माण किया किन्तु अत्याचारियों को नष्ट करके उनका राज्य उनके उत्तराधिकारियों को सौंप दिया, जो श्रेष्ठ गुण वाले थे। पापी कंस को मारकर उसकी

राज्य गद्दी उसी के बाप साधु स्वभाव उग्रसेन को दे दी। अत्याचारी जरासंध को मरवाकर उसका राज्य उसके पुत्र सदाचारी सहदेव को दे दिया। कौरवों को मारकर हस्तिनापुर के राज्य पर श्रेष्ठाचारी पांडवों को आरूढ़ किया। उस समय की प्रजा के लिए वंशपरम्परागत राज्य शासन ही उपयुक्त था और परस्थिति के अनुकूल भी था। भगवान कृष्ण को न तो अपने भाई बधुओं से मोह था, न उनका कोई पक्षपात ही था। अन्त में सारे यदुवंशियों को भी खपा दिया। भगवान कृष्ण की क्रांति का यह स्वरूप है। इसमें योरूप की तानाशाही (Dictatorship) का मेल नहीं खाता। हाँ, जब क्रांति होती है तब एक बार शासन की बागडोर एक व्यक्ति के ही हाथ में रहनी अनिवार्य होती है, जिस तरह टर्की में कमालपाशा और रूस में लेनिन ने किया। पर जब क्राँति पूरी होकर सुव्यवस्था स्थापति हो जाती है तब उस समय की परस्थिति और प्रजा की योग्यता के अनुरूप राज्य शासन की व्यवस्था स्थापित हो जानी चाहिये। क्रांतिकारी समत्वयोगी महापुरुष को स्वयं शासन करने की अभिलाषा या मोह तो होता ही नहीं। वह तो इन तुच्छ स्वार्थों से वहुत ऊपर होता है। जिनको वह राज्याधिकार सौंपता है उनको भी तो वह अपना ही आत्मा अनुभव करता है।

पहला मित्र—भगवान कृष्ण के उस क्रातिकारी समत्वयोग का जो स्वरूप आप कहते हैं उसका वर्णन कहाँ मिलता है?

मैं—भगवद्गीता में।

दूसरा मित्र—गीता तो जीवों को भवसागर से पार करने वाला परमपावन धर्मग्रन्थ है। उसमें क्रांति कहाँ से ढूँढ़ लाये?

मैं—क्या मनुष्य भवसागर से पार, केवल गीताजी की दुहाई देने या उसे पढ़ लेने मात्र से ही होता है अथवा उसके अनुसार आचरण करने से?

तीसरा मित्र—मनुष्य भवसागर से पार तो धर्म का आचरण करने से होता है और इसी के लिये कर्मकांड, उपासना कांड और ज्ञान कांड गीता में प्रतिपादित है। इन तीनों से मनुष्य मुक्ति पाता है।

मैं—मुक्ति का अर्थ है पराधीनता से छुटकारा पाना यानी स्वतन्त्रता की प्राप्ति करना। क्या कर्मकांड, उपासना कांड और ज्ञान कांड पराधीनता से छुटकारा देते हैं, या उल्टे उन्हें नाना कांडों में जकड़े रखते हैं? गीता मुक्ति देनेवाली अवश्य है परन्तु वह इन मजहबी कांडों के बंधनों से भी मनुष्य को मुक्त करती है। इस शरीर में मनुष्य सारी आयु इन कांडों की उलझनों और बंधनों में बिता दे और फिर मरने के बाद मुक्ति का सब्ज बाग दिखावे, ऐसी मुक्ति गीता नहीं देती। गीता तो इसी शरीर और इसी संसार में मनुष्य को पूर्णतया मुक्त या स्वतंत्र बनाने की व्यवस्था करती है, यदि उसको समझकर उस पर ठीक आचरण किया जावे। पर कितने दुख की बात है कि साम्प्रदायिक लोगों ने गीता के अर्थ का अनर्थ करके, चौतरफी क्रांति करने वाले, आर्य संस्कृति के मूलआधार इस अमूल्य

ग्रन्थ को भी मजहबी या साम्प्रदायिक बना दिया और इससे देश के लोगों मे बुद्धि भेद पैदा करके उन्हें पथ भ्रष्ट कर दिया। इसीके परिणाम से देश आज आध्यात्मिक व नैतिक दृष्टि से रसातल को पहुँच रहा है।

पहिला मित्र—तो आपके मतानुसार गीता का सच्चा अर्थ क्या है?

मैं—सो सुनिये। पर आज समय बहुत हो गया है। यदि आप लोगों को अवकाश हो तो कल का टाइम कर लें। उस समय इस विषय पर विचार करेंगे।

दूसरा मित्र—कल यही समय ठीक रहेगा।

मै—बहुत अच्छा।

तीनों मित्र चले गये।

ईश्वर और जगत

दूसरे दिन नियत समय पर उक्त तीनों मित्र आ गये और कौतूहल पूर्वक कहने लगे।

पहिला मित्र—अब आप अपने मतानुसार, गीता में वर्णित भगवान कृष्ण के क्रांतिकारी समत्वयोग की व्याख्या आरम्भ कीजिये।

मैं—अच्छा मित्रों। गीता के क्रांतिकारी समत्वयोग का यथार्थ रहस्य समझने के लिये, पहले आप लोग इस जगत के विषय में गीता का सिद्धान्त क्या है, उसपर ध्यान दीजिये क्योंकि क्रांति जगत में ही होती है।

दूसरा मित्र—गीता इसके विषय में क्या कहती है सो आप कहिये।

तीसरा मित्र—मैं तो यह समझता हूँ कि जगत को ईश्वर ने बनाया है और वही इसका संचालन करता है।

मैं—जगत को ईश्वर ने बनाया है और वही इसका संचालन करता है तो पहले उस ईश्वर के विषय में विचार करना ठीक होगा। यानी ईश्वर क्या है, उसका क्या स्वरूप है, वह कहाँ रहता है, वह जगत को क्यों और कहाँ बैठकर किस पदार्थ से बनाता है और किस व्यवस्था से उसको चलाता है, इस पर विचार करना चाहिये।

दूसरा मित्र—ईश्वर के विषय में नाना लोगों के नाना मत हैं। कोई उसको निर्गुण, निराकार, जगत का रचनेवाला, जगन्नियंता कहते हैं; कोई सगुण, साकार, नाना नामों और नाना रूपोंवाला मानते हैं; कोई उसको सर्वशक्तिमान, सर्वाधार, न्यायी करुणासागर, दीनबन्धु, भक्तवत्सल आदि विशेषण देते हैं; कोई उसको पुरुष मानते हैं। कई नास्तिक कहते हैं कि ईश्वर है ही नहीं; कई दार्शनिक लोग प्रकृति या परमाणु या कर्म या विज्ञान आदि को ही मानते हैं; कई अपने आपको ईश्वर मानते हैं। कई लोग उसको बैकुण्ठ लोक, गौलोक, ब्रह्म लोक आदि लोकों में रहनेवाला, कई आस्मान पर बैठा हुआ बताते हैं और कई मन्दिरों, देवालयों गुरुद्वारों, कई दरगाहों, मस्जिदों, गिरजों आदि को ईश्वर के निवास स्थान बताते हैं। कई उसको ईश्वर, परमात्मा, परमेश्वर, भगवान, ब्रह्म, राम, कृष्ण आदि नामों से संबोधन करते हैं; कई खुदा अल्लाह रहीम, कई God, Almighty, Providence,.........कई अरिहन्त आदिनामों से पुकारते हैं। इस विषय में बहुत घोटाला है, न मालूम कौन ठीक है कौन नहीं।

मैं—सबने अटकले लगाई हैं। वास्तव मे ईश्वर क्या है, इस विषय में एक निश्चित निर्णय पर कोई नहीं पहुँचा, विशेष करके मजहबी लोगों ने तो उसकी बड़ी ही मिट्टी पलीत की है।

पहिला मित्र—मिट्टी पलीत कैसे हुई ?

मैं—निर्गुण निराकार कहते हुए भी जगत का रचयिता, जगन्नियन्ता आदि गुणों वाला मानते हैं; सर्व व्यापी सर्वाधार आदि कहते हुए भी उसको विशेष नामों और विशेष रूपों में परिमित करके विशेष स्थानों में रोक रखा है; न्यायी कहते हुए भी करुणासागर, दीनबन्धु, भक्त वत्सल आदि गुणों से खुशामद पसन्द और पक्षपाती बना दिया है; अपार या अपरिमित को परिमित, हदबन्दी में जकड़ा हुआ एक व्यक्ति बना डाला है। इससे अधिक उसकी और क्या मिट्टी पलीत होगी ?

दूसरा मित्र—पर कई दार्शनिक लोग तो उसका अस्तित्व ही नहीं मानते ?

मैं—उसका व्यक्तिभाव का परिमित, विशेष नामों, विशेष-रूपों, और विशेष गुणों में बँधा हुआ अस्तित्व मानने वाले मजहबी आस्तिक लोगों से तो उसका अलग अस्तित्व न मानने वाले, नास्तिक दार्शनिक ही अच्छे हैं, जो उसकी मिट्टी तो पलीत नहीं करते। एक सम्राट को सारे साम्राज्य के सिंहासन पर आरूढ़ करके फिर उसके पैरों में बेड़ियाँ डालकर कैदखाने में डाल रखना और उसके कल्पित चित्र या मूर्ति या किसी दिशा के सामने सिर झुकाना, पूजा करना, उसके नामों की गुणावली गाना, यह उसकी फजीहत करना नहीं तो और क्या है ? दार्शनिक लोग यद्यपि उसे ईश्वर नाम से संबोधन नहीं करते परन्तु पुरुष, प्रकृति, परमाणु, कर्म, विज्ञान आदि नामों से, एक सर्व व्यापक शक्ति को तो मानते हैं और जैसा वे मानते हैं, उसी

एक निश्चय पर स्थित रहते हैं। यह केवल नामों का भेद मात्र ही है। वास्तव मे मूल सत्ता या परमतत्व सब दार्शनिकों का एक ही है। इतना अवश्य है कि प्रायः सभी दर्शन उस परमतत्व के कुछ अंशों की ही व्याख्या करके थक जाते हैं। उसकी पूर्णता को कोई नहीं पहुँचा। जिस तरह अनेक अधों ने एक हाथी को केवल स्पर्श करके जानना चाहा, तो जिसने हाथी की सूँड़ पकड़ ली उसने सूँड को ही हाथी मान लिया, पूँछ पकड़ी उसने पूँछ को, कान पकड़ा उसने कान को, पाँव छुआ उसने पाँव को और पीठ छुई उसने पीठ को ही हाथी मान लिया। उसी तरह भिन्न-भिन्न दर्शन शास्त्रों ने उस परमतत्व के विशेष अंश पर ही सारा ज़ोर लगा दिया। इस विषय में वेदान्त दर्शन का ज्ञान सब के आगे बढ़ा हुआ और पूर्णता को पहुँचा हुआ है और उसी के अनुसार गीता में उस परमतत्व का पूर्णतया यथार्थ वर्णन किया गया है।

पहिला मित्र—वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार गीता में उस ईश्वर के विषय में क्या कहा है?

मैं—सुनिये—

अध्याय १३ में

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥ १२॥
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ १३॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चांतिके च तत् ॥ १५ ॥
अविभक्त च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥ १७ ॥

अर्थ—जो ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य है वह कहता हूँ, जिसे जान कर अमृत की प्राप्ति होती है अर्थात् सब प्रकार के कल्पित बंधनों से छुटकारा होकर अक्षय आनन्द की प्राप्ति होती है; वह जानने योग्य अर्थात् ज्ञेय वस्तु (आत्मा) अनादि पर ब्रह्म है; न वह सत् कहा जाता है न असत् (१३-१२)।

उस (ज्ञेय तत्व अर्थात् आत्मा) के सर्वत्र आँखें, सिर और मुख, एवं सर्वत्र कान हैं यानी वह सर्व व्यापक होने से प्राणि मात्र के जितने हाथ पाँव आँख सिर मुख और कान हैं वे सब उसी के हैं; और जगत मे वह सब को व्याप्त करके स्थित है (१३-१३)। सब इन्द्रियों के गुणों का आभास (वही) है, अर्थात् सब इन्द्रियाँ और उनके विषय तथा व्यापार उसी की सत्ता से भासते हैं; (और वह) सब इन्द्रियों से रहित है, अर्थात् इन्द्रियों के बिना निरिन्द्रिय सृष्टि भी वही है; असक्त होता हुआ अर्थात् वस्तुतः सब सम्बन्धों से रहित होकर भी

(वह) सब का धारण पोषण करता है, और निर्गुण होकर भी गुणों का भोक्ता है; अर्थात् सब कुछ वही होने के कारण वही सब का धारण पोषण करनेवाला है, और वही निर्गुण तथा वही सगुण है (१३-१४)।

वह सब भूतों के बाहर और भीतर भी है; चर और अचर अर्थात् जगंम और स्थावर भी है; सूक्ष्म होने के कारण वह मन और इन्द्रियों से जाना नही जाता; और वह दूर भी है तथा पास भी है अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म रूप से सर्वत्र परिपूर्ण है (१३-१५)।

वह विभाग रहित होता हुआ भी भूतों में विभाजित हुआ सा स्थित है, अर्थात् एक ही अनेक रूपों मे प्रतीत होता है; और वह ज्ञेय आत्मा भूतों का धारण-पोषण, संहार और उत्पत्ति करनेवाला है, अर्थात् जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय सब उसी में होते है (१३-१६)।

वह ज्योति वालों की ज्योति अर्थात् तेज का तेज, अज्ञानांधकार से परे कहा जाता है तथा ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञान से अनुभव होने वाला, सब के हृदय में रहता है (१३-१७)।

पहिला मित्र—यहाँ पर उस परब्रह्म परमात्मा को ज्ञेय क्यों कहा है ?

मैं—क्योंकि असली जानने योग्य वही है। उसके जानने से सब कुछ जाना जा सकता है। उसको न जानकर और कितने ही पदार्थ जान लिये जायँ तो वास्तविक ज्ञान नहीं होता।

पहिला मित्र—श्लोक १२ में कहा है कि "वह न सत् और न असत् कहा जाता है" सो असत् न कहना तो ठीक है पर सत् क्यों नहीं कहा जाता ?

मैं—केवल सत् कहने से असत् की अपेक्षा रहती है, यानी असत कोई उसके अतिरिक्त और वस्तु होने का भाव रहता है, परन्तु सत् और असत् उससे कुछ भी भिन्न नहीं है। जगत का बनाव जो क्षण-क्षण में बदलनेवाला तथा उत्पत्ति नाश होने वाला होने के कारण असत है वह भी उसी परमतत्व की कल्पना या इच्छा का दिखाव है यानी वही अपनी कल्पना से जगत रूप होकर भासता है, इस कारण वह केवल सत् नहीं कहा जा सकता। अन्य स्थान में सत् और असत् दोनों वही है, ऐसा भी कहा है। वेदान्त दर्शन की यही तो पूर्णता है कि वह उस परम तत्व आत्मा या परमात्मा या ईश्वर को सब विरोधी भावों के जोड़ों, यानी द्वन्द्वों के भीतर और उनके परे भी बताता है। तभी उसकी सर्वव्यापकता सिद्ध होती है। अगर उसको इकतरफा मानें यानी सत या अच्छा ही अच्छा मानें, जैसा कि मजहबी लोग मानते हैं, तो वह परिमित या सीमाबद्ध हो जाय और उसकी सर्व व्यापकता न रहे; परन्तु जब कि वह सर्व है तो सत और असत, भला और बुरा, छोटा और बड़ा, शिष्ट और दुष्ट, ऊँचा और नीचा, बाहर और भीतर, दूर और नजदीक, निर्गुण और सगुण, एक और अनेक, जड़ और चेतन आदि सब विरोधी भाव उसी में हैं। और जहाँ दोनों विरोधी भावों का एकत्व होता

है, उस पर कोई एक विशेषण नहीं लग सकता किन्तु उसके विषय में वाणी से कुछ भी ठीक-ठीक कहा नहीं जा सकता। कोई विशेष गुण तो किसी विशेष व्यक्ति मे होता है, पर जहाँ सबकी एकता होती है, व्यक्ति भाव ही नहीं रहता, सब कुछ एक ही परमात्मा होता है वहाँ कोई विशेष गुण या नाम या रूप कैसे कहा जा सकता है। जो लोग ईश्वर को एक विशेष व्यक्ति मानते हैं वही अपने अज्ञान से उसमें विशेष गुण, विशेष नाम और विशेष रूप आदि का आरोप करके उसे सीमाबद्ध यानी परिमित बनाते हैं।

दूसरा मित्र—श्लोक १७ के अन्त में "हृदि सर्वस्यधिष्टितम्" कहने से विदित होता है कि वह सबके हृदय या छाती में रहता है।

मैं—हृदय में रहने का मतलब, केवल मनुष्य शरीर के किसी अंग में रहने का नहीं है, किन्तु सब के अंतस्थल यानी संसार के प्रत्येक अणु में सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहने का है, तभी तो वह सर्व व्यापक है। इस विषय के और भी बहुत से श्लोक हैं जैसेः—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेस्मिन्पुरुषः परः॥ १३-२२॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठंतं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥ १३-२७॥

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥१३-२८॥
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः प्रश्यति तथात्मामकर्तारं स पश्यति ॥ १३-२६ ॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एवं च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ १३-३० ॥
अनादित्वानिर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ॥
शरीरस्थोऽपि कौंतेय न करोति न लिप्यते ॥ १३-३१ ॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे, तथात्मा नोपलिप्यते ॥ १३-३२ ॥

अर्थ—उपद्रष्टा अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, प्राण तथा इन्द्रियादि की चेष्टाओं का अनुभव करनेवाला-ज्ञाता अथवा साक्षी; अनुमन्ता अर्थात मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, प्राण तथा इन्द्रियादि को उनके व्यवहारों में अनुमति देनेवाला यानी उनका प्रेरक अथवा सहायक; भर्ता अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, प्राण तथा इन्द्रियों आदि के संघात रूप शरीर को सत्ता एवं चेतना युक्त करनेवाला; भोक्ता अर्थात् मन रूप होकर इन्द्रियादिकों के द्वारा विषयों को भोगनेवाला; महेश्वर अर्थात् व्यष्टि भाव से शरीर का और समष्टि भाव से सारे विश्व का स्वामी एवं शासक, इस शरीर में रहनेवाला पुरुष, (प्रकृति से) परे और परमात्मा भी कहा जाता है। तात्पर्य यह कि इस शरीर में जो चेतन पुरुष अर्थात् व्यष्टि भावापन्न जीवात्मा रहता है वह

जड़ प्रकृति से परे है, क्योंकि प्रकृति निरन्तर बदलती रहती है, परन्तु पुरुष सदा एक-सा बना रहता है इसलिए उसे परपुरुष कहते हैं। वह परपुरुष व्यष्टि भाव से शरीर के अन्दर रहता हुआ शरीर की पृथक् पृथक् चेष्टाओं का ज्ञान अर्थात् अनुभव रखता हुआ तथा सब चेष्टायें करवाता हुआ और सब प्रकार के भोग भोगता हुआ, एवं इन्द्रियों आदि पर शासन करता हुआ भी वास्तव में समष्टि-आत्मा परमात्मा स्वरूप ही है, अर्थात् प्रत्येक देह में स्थित पुरुष अथवा जीवात्मा और सब के आत्मा परमात्मा में कोई भेद नहीं है वस्तुतः वे एक ही हैं ॥ १३ २२ ॥ जो सब नाशवान भूतों में यानी जगत में (सदा एक समान रहने वाले) सम अविनाशी परमेश्वर अर्थात् आत्मा को स्थित देखता है वही देखता है। तात्पर्य यह कि जिसको जगत के भिन्न-भिन्न प्रकार के परिवर्तन शील और विषम बनाओं में एक अपरिवर्तनशील एवं सम आत्मा अथवा परमात्मा की सर्वव्यापकता का ज्ञान है, दूसरे शब्दों में जो इस नाना भावापन्न जगत को एक सत्य, नित्य एवं सम आत्मा अथवा परमात्मा के परिवर्तनशील मायिक भावों का बनाव समझता है वही सच्चा ज्ञानी है। (१३-२७) सम अर्थात् एक समान स्थित, ईश्वर अर्थात् आत्मा को सर्वत्र उसी सम भाव ही मे देखने वाला (पुरुप) अपने आप (आत्मा) की हत्या नहीं करता, (और) इससे (वह) परमगति को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि जो एक और सम आत्मा अथवा परमात्मा की सब मे एक समान स्थिति होने के

निश्चय पूर्वक सर्वत्र एकता (Oneness) और समता (Sameness) का ज्ञान रखता है वह समदर्शी महापुरुष अपनी सब प्रकार की उन्नति करता हुआ परमात्मभाव में स्थित होता है, परंतु जो इसके विपरीत भिन्नता और विषमता के भावों को सच्चा मान कर, एक अखंड निर्विकार एवं सम आत्मा अथवा परमात्मा को अनेक विभागों वाला तथा विकारवान् एवं विषम भावों वाला मानता है; वह सब में रहनेवाले आत्मा अथवा परमात्मा स्वरूप अपने वास्तविक आपका तिरस्कार करने की आत्महत्या करके अधोगति को प्राप्त होता है (१३-२८) कर्म सब प्रकार से प्रकृति द्वारा ही किए हुए होते हैं, और आत्मा अकर्ता है, जो इस प्रकार देखता है वही देखता है। तात्पर्य यह कि आत्मा के एक एवं सम होने के कारण उसमें कार्य कारण का कोई भेद नहीं होता—ये भेद सब प्रकृति के गुणों के कल्पित बनाव मात्र हैं, इसलिये कर्मों का कर्तापन अर्थात् कार्य कारण भाव प्रकृति तक ही रहता है, आत्मा सदा अकर्ता ही रहता है। जो इस रहस्य को ठीक-ठीक जान लेता है, वही यथार्थ दर्शी अर्थात् सच्चा ज्ञानी होता है (१२-२९) जब भूतों के पृकता के भावों को एकत्वभाव में स्थित देखता है और उस एकत्व भाव ही से जगत की अनन्त प्रकार की भिन्नता का विस्तार देखता है, तब ब्रह्म स्वरूप होता है। तात्पर्य यह कि जब मनुष्य को जगत् की कल्पित पृथकता के भावों में सच्ची एकता और उस सच्ची एकता ही से कल्पित पृथकता का फैलाव होने का निश्चय हो जाता है, दूसरे शब्दों में

"अनेकों में एक और एक में अनेक" होने का जब यथार्थ अनुभव हो जाता है, तभी ब्राह्मी स्थिति की प्राप्ति होती है (१३-३०) हे कौंतेय। अनादि होने के कारण और निर्गुण होने के कारण यह अव्यय अर्थात् निर्विकार परमात्मा शरीर मे रहता हुआ भी, न (कुछ) करता है और न लिपायमान होता है (१३-३१) जिस तरह सूक्ष्म होने के कारण आकाश सब में रहता हुआ भी लिपायमान नहीं होता उसी तरह देह में आत्मा (सूक्ष्म रूप से) सर्वत्र रहता हुआ भी लिपायमान नही होता (१३-३२)।

पहला मित्र—इन श्लोकों से तो स्पष्ट होता है कि ईश्वर सारे जगत् का आत्मा है और आत्मा ही परमात्मा है। सब के अन्दर रहनेवाला वह एक ही आत्मा या ईश्वर अनेक रूप हो कर नाना भावों वाला जगत् रूप बनता है। श्लोक २२ में द्रष्टा, दर्शन, दृश्य; भोक्ता, भोग और भोग्य सब कुछ शरीर में रहनेवाला आत्मा ही है, ऐसा कहा है। ईश्वर या परमात्मा शरीर और जगत् से भिन्न नहीं है किन्तु जगत ही जगदीश्वर है। परन्तु इन श्लोकों में जो कहा है कि सब में वह "सम" रहता है, सो छोटे बड़े तथा भिन्न-भिन्न गुणों वाले पदार्थों में एक समान बराबर कैसे रहता है और जब श्रेष्ठ वा दुष्ट या अच्छे और बुरे मे वह एक समान ही रहता है तो नैतिकता कहाँ रही ? बुरे कर्म करनेवाले भी ईश्वर के रूप ही हुए।

मैं—यहाँ "सम" शब्द का तात्पर्य समान या बराबर नाप तौल बिस्तार या श्रेणी से नहीं है। "सम" शब्द का अर्थ सब

की एकता के समभाव से है। बराबरी या समानता का भाव वहाँ होता है जहाँ वास्तव में दो या अधिक की तुलना हो, परन्तु जहाँ दो हैं ही नहीं, वहाँ तुलना किसकी किससे हो। जहाँ एकता होती है वहाँ ही वास्तविक समता होती है। एक धागे में अनेक मणके पिरोये हुए होते हैं तो कोई मणका छोटा हो कोई बड़ा और किसी भी पदार्थ का हो, धागा तो सब के अन्दर वही होता है और जब धागे के ही मणके हों तो धागे के सिवाय और कुछ है ही नहीं—इक सार धागा ही है। यही भाव समता का है। इसका खुलासा करने के लिए ही श्लोक ३२ में आकाश का दृष्टान्त दिया गया है। आकाश सब के अन्दर और बाहर व्यापक है परन्तु छोटे प्राणी या वस्तु आकाश के जिस अंश में होते हैं, वह आकाश छोटा नहीं हो जाता और बड़े से बड़ा नहीं हो जाता। पदार्थों के गुण आकाश में नहीं आते। भूतप्राणियों के होने और न होने से तथा उपजने और नाश होने से आकाश का कुछ बनता बिगड़ता नहीं; संसार के भिन्न-भिन्न भागों में नाना प्रकार के दुःख सुख आदि होने से आकाश में कोई विकार नहीं होता, वह सम ही बना रहता है। इसी तरह आत्मा या परमात्मा नाना प्रकार के परस्पर विरोधी और विलक्षण बनावों में निर्विकार और सम ही बना रहता है। जब विरोधी व विषम प्रतीत होनेवाले भाव उस एक आत्मा ही के होते हैं तब विषमता आवेगी कहाँ से। सब कुछ अपना आप अनुभव होने से सदा समता ही बनी रहती है। शेष रही नैतिकता की बात, सो जहाँ एकता और समता

होती है वहाँ अनीति या अत्याचार हो ही नहीं सकती। जहाँ भिन्नता के भावों और विभिन्न स्वार्थों की खींचातानी रहती है वहीं अनीति और अत्याचार होते हैं। जो लोग सब के साथ अपनी एकता के निश्चित ज्ञान से संसार के व्यवहार करते है वे अनीति या अत्याचार कर ही नहीं सकते क्योंकि अपने आप पर अनीति या अत्याचार कोई भी नहीं कर सकता; परन्तु जो लोग दूसरों को अपने से बिलकुल अलग मानते हैं वे ही अपने व्यक्तित्व के अहकार और व्यक्तिगत स्वार्थों की खीचातानी के कारण अनीति और अत्याचार करते हैं। वास्तव में सच्ची नैतिकता का मूल आधार ही एकता का भाव है। सारे समाज की एकता के निश्चय के आधार पर, सब के सम्मिलित स्वार्थों को दृष्टि में रखते हुए जो नैतिक व्यवस्थाये बाँधी जाती हैं वही सच्ची नैतिकता है; और जो भिन्न व्यक्तियों और भिन्न समाजों के स्वार्थों की सिद्धि और सुरक्षा के लिए नैतिक व्यवस्थाये या कानून बनाये जाते हैं वे वास्तव में नैतिक नहीं—घोर अनैतिक हैं। वर्तमान समय मे इसी अनैतिकता को ही अधिकतर लोग नैतिकता मानते हैं और इसी से आपस में इतनी अशान्ति और लड़ाई झगड़े होते हैं।

पहला मित्र—परन्तु गीता में वर्णित पूर्ण एकता का ज्ञान और दृढ़ निश्चय तो विरले महापुरुषों को होता होगा। सर्व साधारण की इतनी ऊँची योग्यता नहीं होती कि वे इस आध्यात्मिकता को हृदयगंम कर सकें और इसके अनुसार आचरण करें। फिर जनता के साधारण व्यवहारों में नैतिकता कैसे रहेगी?

मैं—यह ठीक है कि सब की एकता का आत्मज्ञान विशेष महापुरुषों को ही होता है, साधारण जनता को नहीं होता; परन्तु जिस समाज में एक दो ही आत्मज्ञानी समत्वयोगी महापुरुष होते हैं और वे अपने इस सर्वात्म भाव के अनुभव से सब के हित को लक्ष में रखते हुए, देश काल और व्यक्तियों की परस्थिति के उपयुक्त नैतिकता के नियम बनाते हैं और साधारण जनता उन नियमों पर चलती है तब ही उस समाज में शांति रहती है, लड़ाई झगड़े नहीं होते। जिस समाज में कोई आत्मज्ञानी महापुरुष होता ही नहीं या जनता ऐसे महापुरुषों का आदर और अनुसरण नहीं करती तो वह समाज चाहे कितना ही शक्ति सम्पन्न हो या भौतिक दृष्टि से उन्नत हो, उसमे न तो नैतिकता है न सच्ची सुख शान्ति ही। यद्यपि पूर्ण एकता होना दुसाध्य है परन्तु जिस समाज में जितनी ही एकता का भाव अधिक होता है उतना ही वह नैतिकता में बढ़ा हुआ और शान्तिमय होता है और जितनी एकता कम होती है उतना ही वह नैतिकता में गिरा हुआ और सुख शांति से रहित होता है। संसार पूर्णता को नहीं पहुँचा है इसलिए तारतम्य तो रहता ही है।

वर्तमान समय में भी नैतिक व्यवस्थाओं के कानून समाज के चुने हुये बुद्धिमान और विद्वान लोग ही राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय व्यवस्थापिका सभाओं (Assemblies) में एकत्र होकर बनाते हैं और साधारण जनता उन पर चलाई जाती है; परन्तु सब की एकता के आत्मज्ञान के अभाव में वे कानून सब के लिये हितका-

रक नहीं होते, किन्तु विशेष व्यक्तियों या विशेष दलों या विशेष राष्ट्रों के संकुचित स्वार्थों की रक्षा के लिए होते हैं; इसीलिए न उनमें सच्ची नैतिकता होती है और न वे समाज के लिए सच्चे हितकारक ही होते हैं। इसीलिए गीता में सर्वभूतात्मैक्य समत्व योग की इतनी महिमा कही गई है। ऐसा समत्व योगी महापुरुष ही संसार का पथ-प्रदर्शक होता है और भिन्नता के भावों के कारण जब लोगों में बहुत विषमता हो जाती है तब आवश्यकतानुसार क्रांति करके सच्ची नैतिकता स्थापित करता है।

तीसरा मित्र—इन श्लोकों में कहा है कि वह आत्मा शरीरों में रहता हुआ भी न कुछ करता है और न लिपायमान होता है, सो समझ में नहीं आता। जब संसार का सब बनाव वही करता है और नाना प्रकार के विकार प्रत्यक्ष अनुभव हो रहे हैं, तो यह अकर्ता और निर्लेप कैसे रहता है?

मैं—कर्ता और कर्म अथवा भोक्ता और भोग्य अलग-अलग हों तो कर्तापन और भोक्तापन का भाव होता है, परन्तु जहाँ सब कुछ आत्मा ही है, वहाँ कर्तापन और भोक्तापन बनता ही नहीं। आत्मा स्वाभाव से ही अनादि अव्यय और एक होने के कारण उसमें भिन्नता के यह भाव नहीं रह सकते। परन्तु आत्मा के अज्ञान से, लोग अनेकता ही के व्यक्तिभावों में आसक्ति करके, आत्मा या परमात्मा या अपने आपको अनेक विकारों से युक्त मानकर आप ही दुखी होते हैं। जो महापुरुष व्यक्तिभाव से ऊपर उठ कर सर्वात्म भाव के आत्मज्ञान में स्थित हो जाते है

उन पर जगत के नाना प्रकार के विकारों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता किन्तु वे सदा ही सम रहते हैं।

पहला मित्र—गीता में दूसरे स्थान पर ईश्वर को जगत से भिन्न माना है। जैसे अध्याय १८ में :—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ १८-६१ ॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शांति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ १८६२ ॥

अर्थ। हे अर्जुन ! ईश्वर अपनी माया से यंत्र पर चढ़े हुये भूत-प्राणियों को घुमाता हुआ सब भूतप्राणियों के हृदय में स्थित है (१८-६१)।

हे भारत ! तू सब प्रकार उसी के शरण में जा; उसके प्रसाद से परम शांति के शाश्वत स्थान को प्राप्त होगा (१८-६२)।

जब वह ईश्वर अपनी माया से यंत्र वा चक्र पर चढ़ाए हुए सब भूतों या जगत को घुमाता है तो वह जगत से अलग है तभी तो उसे घुमाता है। जब कुंभार चाक पर चढ़े हुये बर्तनों को घुमाता है, तो वह उससे अलग ही होता है। घूमने वाले और घुमाने वाले का भेद ही तो हुआ।

मैं—पर कुमार तो चाक और बरतनों से अलग बैठा होता है; और ईश्वर, इस श्लोक के अनुसार सब भूतों के हृदय देश यानी उनके भीतर स्थित है और भीतर से ही सबको क्रियाशील करता है; तब वह अलग कहाँ रहा ? क्या आप लोग अपने

भीतर अपने आप यानी आत्मा के सिवाय और किसी के होने का अनुभव करते हैं ?

पहला मित्र--नहीं।

मैं—तो फिर घूमनेवाले से घुमानेवाला अलग कहाँ रहा। वास्तव में बात यह है कि प्रत्येक शरीर और जगत के दो भाव होते है। एक स्थूल आधिभौतिक जड़ भाव और दूसरा सूक्ष्म आध्यात्मिक चेतन भाव। स्थूल आधिभौतिक, जड़भाव निरंतर बदलने वाला, उत्पत्ति और नाशवान परतंत्र एवं विकारी होता है; और सूक्ष्म, आध्यात्मिक चेतन भाव सदा एक समान रहनेवाला, उत्पत्ति, नाश और विकारों से रहित, पूर्ण स्वतंत्र, सब जड़ भावों का स्वामी होता है। संसार में यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि जड़ पदार्थों को चेतन-प्राणी ही हल-चल देते हैं, इसलिए चेतनप्राणी ही जड़ पदार्थों के स्वामी या शासक होते हैं। प्रत्येक शरीर की सब इन्द्रियाँ, प्राण और सब अंग तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार रूप अन्तःकरण आदि भौतिक जडभाव हैं और इन सब को सत्ता और चेतनायुक्त करनेवाला आत्मा, आध्यात्मिक, चेतन भाव है। भौतिक शरीर आत्मा की चेतना के आश्रित है और उसकी स्थिति आत्मा पर निर्भर है यानी आत्मा ही की कल्पना या इच्छा शक्ति से बनता विगड़ता और स्थित रहता है। इसलिए आत्मा ही शरीर का स्वामी या ईश्वर है और उसी की सत्ता और स्फुरण शक्ति से शरीर के सब व्यवहार होते हैं। यद्यपि संसार के दृष्टिगोचर जड़ पदार्थों से उनका चेतन

संचालन शरीर रूप से अलग दीखता है, पर आत्मा उन जड़ पदार्थों से अलग नहीं है, यही भेद है। हममें से प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता और कहता है कि "आँख, कान, नाक, मुख, हाथ, पाँव, मलद्वार, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि सब मेरे हैं और इन सब का समूह शरीर भी मेरा है।" जिससे सिद्ध होता है कि इस स्थूल शरीर और इसके सब अंगों के अतिरिक्त "मैं" कोई ऐसी सत्ता हूँ जो इन सबका स्वामी हूँ, और "मेरी" शक्ति से ही इनके सब व्यवहार और सब चेष्टाएँ होती हैं। "मैं" ही इनको प्रेरणा करता हूँ और "मैं" ही इन सबको चलाता हूँ। तात्पर्य यह कि कोई व्यक्ति इनको अपने से अलग नहीं समझता बल्कि सबको अपना आप ही समझता है। जो एक शरीर पिण्ड की व्यवस्था है वही सारे ब्रह्माण्ड और जगत की है। सारे जगत के भी जड़ और चेतनरूप से दो भाव हैं। चेतनभाव, नित्य सनातन है और जड़भाव का स्वामी या ईश्वर कहा जाता है; परन्तु वह जगत से भिन्न नहीं है किन्तु जगत रूप ही है। चेतन की स्फुरण-शक्ति ही स्थूल जड़ रूप बनती और मिटती है। इस विषय के प्रमाण में गीता के श्लोक आगे प्रसंग आने पर कहूँगा।

दूसरा मित्र—इस श्लोक में तो कहा है कि ईश्वर सब भूतों के हृदयदेश में रहता है; इसका तो यही अर्थ होता है कि वह एक विशेष स्थान में रुका हुआ है।

मैं—जिस तरह विद्युत् शक्ति यानी बिजली के करंट का प्रवाह सारे आकाश में व्यापक है परन्तु रेडियो का विस्तारक यत्र (Broad-casting transmitter) जहाँ होता है वहीं से उस मशीन के द्वारा व्यापक विद्युत शक्ति का उपयोग करके उससे सर्वत्र ध्वनि और दृश्य फैलाये जाते है। इसी तरह प्राणियों के हृदयदेश मे मन रूपी वह मशीन है, जहाँ से सारे शरीर की चेतना शक्ति को उत्तेजना प्राप्त होती है।

पहिला मित्र—६२ वें श्लोक में कहा है कि "तू सर्व भाव से उसी की शरण में जा। उसी की प्रसन्नता से तू परम शान्ति के शाश्वत स्थान को प्राप्त होगा।" इससे सिद्ध होता है कि ईश्वर स्वामी और जीव सेवक है। जीव जब ईश्वर की शरण में जाता है तब मुक्त होता है। इससे तो साफ द्वैत प्रतीत होता है।

मैं—इस श्लोक के पहले के ६१ वें श्लोक से यह श्लोक जुड़ा हुआ है, जिसमें ईश्वर को सब के हृदय मे स्थित कहा है। जो सब के हृदय में स्थित है वह शरण में जाने वाले के हृदय में भी अवश्य ही स्थित है, और हृदय में अपना आप आत्मा ही है ऐसा सब को प्रत्यक्ष अनुभव है, तो फिर आप ही अपने शरण होता है।

पहिला मित्र—आपको अपने शरण होने को कैसे कहा जा सकता है।

में—असल में बात यह है कि संसार में अधिकांश अज्ञानी लोग, इस नाशवान, अनित्य, भौतिक शरीर को ही अपना आप मान कर, दूसरों से अपने अलग होने के तुच्छ व्यक्तित्व का अहंकार करके, केवल अपने व्क्तिगत स्वार्थों के लिये, धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म समझते हैं, और नाना प्रकार के अनर्थ करके समाज की व्यवस्था बिगाड़ते हैं। अपने सच्चे स्वरूप, उक्त सर्व-व्यापी चेतन आत्मा को भूल जाते हैं। व्यष्टि भाव से जो आत्मा प्रत्येक शरीर मे है, उसे जीवात्मा कहते हैं, और सब शरीरों और जगत में रहनेवाला वही आत्मा समष्टि या सम्मिलित भाव से परमात्मा या ईश्वर कहा जाता है। इसलिये सब के भीतर रहनेवाले उस समष्टि चेतन आत्मा या ईश्वर का उल्लेख करके यह कहा गया है कि अपने पृथक व्यक्तित्व के भाव की, समष्टि यानी सब के साथ एकता के भाव में जोड़ने रूपी शरण में जाओ। व्यक्ति भाव से किसी अलग ईश्वर के चरणों में पड़कर उसकी शरण में होने का तात्पर्य नहीं है। इन दो श्लोकों का यथार्थ भाव समझने के लिये उस समय की परिस्थिति और प्रसंग पर विचार करना चाहिये। अर्जुन महाभारत के युद्ध में होनेवाली हत्याओं के पाप के फल स्वरूप, नरक में पड़ने के भय से व्याकुल होकर, अपने व्यक्तिगत कल्याण के उद्देश्य से, पाप से बचने के लिये, समाज की सुव्यस्था की परवाह न करके, व्यष्टि अहंकार से युद्ध करने रूपी अपने स्वाभाविक धर्म से विमुख होना चाहता था। अर्जुन के उस

पृथकता के भाव से समष्टि हित की हानि होने के कारण भगवान् कृष्ण ने उसको यह उपदेश दिया कि दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहंकार से और अपने व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लिये, तुमको अपना स्वाभाविक-धर्म युद्ध करना नहीं छोड़ना चाहिये, किन्तु अपने व्यक्तित्व को सब के साथ जोड़कर, अपने कर्त्तव्य कर्म अच्छी तरह करना चाहिये जिससे समष्टि समाज की व्यवस्था बनी रहे, इससे परमशांति के शाश्वत पद की प्राप्ति होगी। अपने पृथक व्यक्तित्व के भाव से अपना स्वाभाविक धर्म छोड़ने से कदापि कल्याण नहीं होगा। इस श्लोक में "सर्व-भावेन" शब्द का जो प्रयोग हुआ है वह विशेष ध्यान देने योग्य है। इसका यही तात्पर्य है कि अपने व्यक्तित्व और व्यक्तिगत स्वार्थों के सब भावों को समष्टि मे जोड दे। इन श्लोकों के पहिले के श्लोकों पर ध्यान देकर सब के सामंजस्य करने से यह बात विशेष रूप से स्पष्ट हो जायगी।

मच्चितः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ १८-५८ ॥

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ १८-५९ ॥
स्वभावजेन कौंतेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ १८-६० ॥

अर्थ—मुझ में (सब के आत्मा = परमात्मा में) चित्त रखने पर मेरी कृपा से तू सब विपत्तियों को तर जायगा। किन्तु यदि

अहंकार से मेरी (सर्वात्मा) की बात नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायगा (१८-५८)। यदि व्यक्तित्व के अहंकार के वश होकर तू ऐसा मानता है कि "मैं नहीं लड़ूँगा" तो तेरा यह निश्चय मिथ्या है, (क्योंकि तेरी) प्रकृति तुझे अवश्य (युद्ध) में लगावेगी (१८-५९) हे कौंतेय ! तू मोह के कारण जिसे, अर्थात् अपने कर्तव्य कर्म को नहीं करना चाहता है, उसे अपने स्वभाव जन्य कर्म से बँधा हुआ तू विवश होकर करेगा (१८-६०)।

तीसरा मित्र—जब यह बात है तो "उसके शरण में जा, उसकी प्रसन्नता से तू परम शांति को प्राप्त होगा" इस द्वैत अथवा पृथकता की भाषा का प्रयोग क्यों किया गया ?

मैं—जब वाणी से कोई बात कही जाती है तब द्वैत की भाषा का प्रयोग अनिवार्य होता है, क्योंकि द्वैत बिना कोई वाक्य बन ही नहीं सकता। कर्ता और कर्म के बिना कोई वाक्य नहीं बन सकता। 'मैं' 'तू' या 'वह' इन में से किसी न किसी शब्द का प्रयोग करना ही होगा। इसीलिये गीता मे भी कहीं पर 'मैं' और 'तू' का प्रयोग हुआ है, और कहीं पर 'वह' और 'तू' का प्रयोग हुआ है, जिससे द्वैत का भ्रम होता है। पर जिस द्वैत की भाषा से अद्वैत की सिद्धि होती हो, वह वास्तव में द्वैत की भाषा नहीं होती। भाषा के केवल शब्दार्थ को इतना महत्व नहीं देना चाहिये जितना उसके भाव को। गीता में यद्यपि विवशता पूर्वक द्वैत की भाषा का प्रयोग करना पड़ा है परन्तु उसका लक्ष्य अद्वैत का ही है। इन श्लोकों में भी ऐसा ही है।

पहिला मित्र—इन्हीं श्लोकों को लेकर साम्प्रदायिक भक्ति मार्ग वाले, व्यक्ति ईश्वर के अस्तित्व की पुष्टि करते हैं और अपने को सर्वथा उसके आधीन, दास और उसके हाथ की मशीन बताते हुए, अपने उत्तरदायित्व से विमुख होना चाहते हैं।

मैं—उन लोगों का ऐसा मानना कहाँ तक ठीक है और इन श्लोकों का वैसा अर्थ लगाना कितना अन्याय है सो आप लोग देख ले।

पहिला मित्र—गीता में यह बात बहुत ही खटकनेवाली है कि भगवान कृष्ण स्वयं अपने ही मुख से अपने आप को ईश्वर कहते हैं, वे आप ही अपनी भक्ति करने, सर्वस्व अपने समर्पण करने और सब कुछ छोड़-छाड़कर अपनी शरण मे आने पर जोर देते हैं। यह व्यक्तित्व का आत्माभिमान और स्वार्थपरता प्रतीत होती है। उदाहरण के लिए:—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥ ३-३०॥

अर्थ—तू सब कर्मों का आध्यात्म चित्त से मुझ मे सन्यास करके, आशा और ममता से रहित होकर, एवं शोक संताप छोड़ कर युद्ध कर (३-३०)

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोक महेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शांतिमृच्छाति॥ ५-२६॥

अर्थ—मुझे यज्ञों और तपों का भोक्ता, सब लोकों का महान ईश्वर, सब भूतों का सुहृद् जानकर शांति को प्राप्त होता है (५-२९)।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ ६ ४७॥

अर्थ—सारे योगियों में जो अपने अंतःकरण को मुझ में लगाकर श्रद्धा सहित मुझको भजता है, वह मेरे मत में सर्व श्रेष्ठ योगी है (६-४७)।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥ ८-४॥
अंतकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यःप्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशय॥ ८-५॥

अर्थः—क्षर अर्थात् उपजने, मिटने, घटने, बढ़ने वाला निरंतर परिवर्तनशील भाव अधिभूत है, और पुरुष अर्थात प्रत्येक शरीर और जगत के व्यापारों को धारण करनेवाली, सबके आत्मा-परमात्मा की सूक्ष्म शक्तियों अथवा विभूतियों के रूप में प्रकट होने वाला देव-भाव अधिदेव है, (और) हे देह धारियों में श्रेष्ठ! इस देह में अधियज्ञ (उपास्य) मैं ही हूँ (८-४)। और जो अंतकाल में केवल मुझे ही स्मरण करता हुआ शरीर छोड़कर जाता है, वह मेरे भाव को प्राप्त होता है, इसमें संदेह नहीं है।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ९-३४ ॥

अर्थः—मुझ मे मन लगा, मेरा भक्त हो, मेरा भजन कर और मुझे नमस्कार कर। इस प्रकार अपने अन्तःकरण को जोड़ कर मेरे परायण हुआ तू मुझ में ही मिल जायगा (९-३४)।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इतिमत्वा भजन्ते मां बुधा भाव समन्विता ॥ १०-८ ॥
मच्चिता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यति च रमति च ॥ १०-९ ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १०-१० ॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयान्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वत ॥ १०-११ ॥

अर्थ—बुद्धिमान लोग यह मानकर कि "मैं सबकी उत्पत्ति का स्थान हूँ और मेरे से ही सब की प्रवृत्ति होती है" प्रेम भाव से मेरी उपासना करते हैं (१०-८)। मुझ मे मन लगाकर (और) प्राणों को मुझ मे जोड़कर अर्थात् श्वासोच्छ्वास में मेरा स्मरण करते हुए, (तथा) परस्पर में बोध कराते हुए एवं मेरे विषय में चर्चा करते हुए सदा उसीमें तृप्त यानी मस्त रहते हैं, और उसी में रमण करते हैं अर्थात् आनंदित होते हैं (१०-९)। निरंतर मुझ में मन लगाये हुए उन प्रीति पूर्वक (मेरा) भजन

करने वालों को मैं बुद्धि योग देता हूँ, कि जिससे वे मुझ में आ मिलते हैं (१०-९)। उन पर अनुग्रह करने के लिये ही मैं उनके अंतःकरण में स्थित हुआ, देदीप्यमान ज्ञान के प्रकाश से अज्ञान जन्य अंधकार का नाश करता हूँ (१०—१०)

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ १२—६ ॥
तेषामहँ समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ १२-७ ॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ १२-८ ॥
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥ १२-९ ॥
अभ्यासेऽप्यसमर्थोसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१२-१०॥

अर्थ—परन्तु जो सब कर्मों का मुझ में संन्यास करके, मेरे परायण हुये, अनन्य भाव में मन लगाकर मेरा ध्यान करते हुए उपासना करते हैं; हे पार्थ! मुझ में पूर्णतया चित्त लगा देनेवालों उन (भक्तों) को मैं मृत्यु-रूप संसार समुद्र से तुरन्त पार करता हूँ (१८-६-१७) अतएव मुझ में ही मन लगा, एवं मुझ मे बुद्धि स्थितकर; इस तरह करने से तू उन्नत होकर निःसंदेह मुझ में ही निवास करेगा (१८)। अब यदि तू मुझ में भली भाँति चित्त स्थिर न कर सकता हो, तो हे धनंजय!

अभ्यास योग से मुझे प्राप्त करने की इच्छा कर, यानी बार-बार मेरी प्राप्ति के चिन्तन का अभ्यास कर (१२-५)। यदि अभ्यास करने में भी तू असमर्थ हो तो मेरे लिये कर्म करने में तत्पर रह; मेरे लिये कर्म करता हुआ भी तू सिद्धि प्राप्त करेगा (१२-५)।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
सगुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्म भूयाय कल्पते ॥ १४-२६ ॥

अर्थ—और जो अनन्य भक्ति योग से मेरी उपासना करता है वह इन गुणों से अतीत होकर ब्रह्म रूप हो जाता है (१४-२६)।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ १८-६५॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥१८-६६॥

अर्थ—मुझमें मन वाला हो; मेरा भक्त हो; मेरा यजन कर; मुझे नमस्कार कर; मैं तुझे सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि, (ऐसा करने से) तू मुझको प्राप्त होगा; तू मुझको बहुत प्यारा है। सब धर्मों का परित्याग यानी पूर्णतया त्याग करके तू एक मेरी शरण मे आ। मैं तुझ सब पापों से मुक्त कर दूँगा, शोक मत कर (१८-६५,६६)।

कृष्ण के इस तरह के वाक्यों से उन पर आत्म-श्लाघा और स्वार्थपरता का आरोप हो सकता है।

मैं—इन श्लोकों का वास्तविक अर्थ समझने में बड़ी भूल और खेंचातानी की जाती है। भगवान् कृष्ण ने गीता में कहीं भी

अपने व्यक्ति भाव को ईश्वर नहीं कहा; न अपने भौतिक शरीर या व्यक्तित्व की भक्ति या उपासना करने को कहा है; और न कुछ अपने अलग व्यक्तित्व के लिये अर्पण करने, या अपने पृथक् व्यक्तित्व की शरण होने को कहा है । गीता में भगवान् कृष्ण ने उत्तम पुरुष वाचक "अहं" शब्द के जितने रूपों यानी मम, मत्, मे, मया, माम्, मयि आदि का प्रयोग किया है, वे समष्टि भाव से, यानी सब के आत्म रूप के भाव से किया है और यह बात स्थान-स्थान पर स्पष्ट भी करते रहे हैं। अतः भगवान कृष्ण का कहा हुआ 'मैं' 'मेरा' 'मुझ' आदि प्रत्येक व्यक्ति का और सबका 'मैं' 'मेरा' और 'मुझ' है। सर्व व्यापी आत्मा का जहाँ वाणी से वर्णन, परोक्ष रूप से यानी दूरस्थ होने की भाषा में, किया जाय तो वहाँ पर "वह, उसका, उसको, उससे या उस मे" इस तरह के अन्य पुरुष (Third person) वाचक सर्वनामों (Pronouns) का उपयोग किया जायगा; और यदि प्रत्यक्ष या निकटस्थ होने की भाषा में किया जाय तो, या तो "तू, तेरा, तुझको, तुझ से, तुझ में' आदि मध्यम पुरुष (Second person) वाचक सर्वनामों का उपयोग होगा, या "मैं, मेरा, मुझको, मुझसे, मुझमें" आदि उत्तम पुरुष (First person) वाचक सर्वनामों का उपयोग होगा। गीता में भगवान् ने कई स्थलों पर तो साधारण लोगों के बुद्धिगम्य होने योग्य अन्य पुरुष (Third person) वाचक सवनामों का प्रयोग किया है, जिसका ज़िक्र पहले हो चुका है। बाकी अधिकतर

स्थलों पर उत्तम-पुरुष (First person) वाचक शब्दों का प्रयोग किया है; क्योंकि आत्मा सब का अपना आप है, जिसको सब कोई "मैं" शब्द से कहते और अनुभव करते हैं। उप "मैं" शब्द से, सब में समान भाव से स्थित, एक, अद्वैत, नित्य आत्मा का प्रत्यक्ष निश्चय होता है। "वह या तू आत्मा अथवा ब्रह्म है" ऐसा कहने से "मैं" अलग रह जाता है, जिससे द्वैत या भिन्नता का भ्रम हो सकता है, जैसा कि अठारहवें अध्याय के श्लोक ६१-६२ की भाषा मे "वह" और "उसको" शब्दों में आप को भ्रम हुआ था। "वह" और "तू" को जानने या अनुभव करनेवाले 'मैं' के अलग अस्तित्व की आवश्यकता होती है। परन्तु "मैं" को जानने या अनुभव करने के लिये दूसरे किसी के होने की आवश्यकता नहीं रहती। "तू ब्रह्म अथवा आत्मा है" कहने से देह भाव और व्यक्ति भाव मे आसक्त लोगों के, अपने व्यक्तित्व या शरीर को ही आत्मा या ब्रह्म या ईश्वर मान लेने की आशंका रहती है। क्योंकि "वह" और "तू" केवल एक विशेष व्यक्ति वाचक शब्द हैं; परन्तु "मैं" शब्द सबमें एक समान व्यापक है। "मैं हूँ" यह सब अनुभव करते हैं। इस में तब तक द्वैत का भाव नहीं आता जब तक कि इसके साथ ही "वह" या "तू" का प्रयोग नहीं होता। और जब "मैं" के साथ सब की एकता का भाव अधिक स्पष्ट कर दिया जाता है, तब तो द्वैत के भ्रम के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं रहती। आपने भगवान् कृष्ण के व्यक्तित्व के आत्माभिमान के प्रमाण में जो

श्लोक कहे हैं, उन में भी पृथकता का भाव नहीं है; किन्तु सब के साथ उनकी एकता का भाव सम्मिलित है। अध्याय ३ श्लोक ३० में "मुझ में सर्व कर्मों का सन्यास यानी अर्पण करने" को जो कहा है, उसके साथ ही "अध्यात्म चेतसा" यानी "मुझको सब का आत्मा समझता हुआ अर्पण कर" ऐसा कहा है। व्यक्ति कृष्ण के अर्पण करने को नहीं कहा। और उस परिस्थिति में व्यक्ति कृष्ण के लिये युद्ध करने का उपदेश बिलकुल असंगत होता। भगवान् कृष्ण को किसी बात की चाह या आवश्यकता तो थी ही नहीं। यह बात तो पहले ही स्पष्ट कर चुके थे।

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि ॥ ३-२२ ॥
यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ३-२३ ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ ३-२४ ॥

अर्थ :—हे पार्थ ! मेरे लिए तीनों लोकों में कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है और न मुझे कोई अप्राप्त वस्तु ही प्राप्त करनी है; तो भी मैं कर्म करता ही रहता हूँ (३-२२)—क्योंकि यदि मैं कभी तत्परता से कर्म न करूँ, तो हे पार्थ ! लोग सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करने लग जावें, अर्थात् सब लोग काम करना छोड़ दें (३-२३)।

(अतः) यदि मै कर्म न करूँ तो ये सारे लोक नष्ट हो जायँ और वर्णसंकरता उत्पन्न करनेवाला तथा इन प्रजाओं को बिगाड़नेवाला मै होऊं (३-२४) ।

अस्तु जिस तरह वे स्वय सर्वात्म भाव की स्थिति मे यानी सबको अपना आत्मा समझकर साम्यभाव से लोक संग्रह यानी समाज की सुव्यवस्था के लिए व्यवहार करते हैं, उसी तरह सब की एकता के आत्मज्ञान युक्त साम्य-भाव से अपने-अपने शरीर की योग्यता के कर्त्तव्य कर्म, समाज की सुव्यवस्था के उद्देश्य से करने का सबको कहते हैं। तीसरे अध्याय मे इसी कर्म-योग की विस्तृत व्याख्या है । यह उपदेश व्यक्तिभाव या व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए नहीं है किन्तु सर्वात्म भाव से सबके हित के लिये निश्चित सिद्धान्त है । पाँचवे अध्याय के श्लोक २६ मे भगवान् ने अपने को सब लोगों का "महेश्वर" कहने के साथ ही "सुहृद सर्व भूतानां" कहकर सबकी अन्तरात्मा होने की स्थिति स्पष्ट कर दी, इसलिए दूसरों से अलग व्यक्ति ईश्वर का अर्थ नहीं हो सकता । इसी तरह छठे अध्याय के ४७ वे श्लोक मे "मद्गतेनान्तरात्मना" कहकर आत्म-भाव की स्थिति स्पष्ट कर दी है। अध्याय ८ के श्लोक ४ में "अधियज्ञ मै ही हूँ" के साथ "अत्र देहे" यानी इस देह मे, कहकर सर्वात्म भाव साफ कर दिया है और जो उसी आत्मभाव का स्मरण करता हुआ प्राण छोड़ता है वह "मेरे सर्वात्म भाव को प्राप्त होता है" इसलिए निरंतर उस सर्वात्म भाव का चिन्तन करते रहने को कहा है।

इसी अध्याय के श्लोक १३ मे सर्वव्यापी ब्रह्म या परमात्मा का बोध करानेवाले, "ॐ अक्षर के उच्चारण से मेरा स्मरण करता हुआ जो शरीर छोड़ता है वह परमगति को पाता है" कहा है। इसमें भी सर्वात्म भाव का ही वर्णन है । नवें अध्याय के ३४ वें श्लोक में "मेरे मन वाला, मेरा भक्त" आदि होने को कहा है सो भी सर्वात्म भाव से कहा है । यहीं पर "युक्तैवात्मानं", अपने अंतःकरण को एकता में जोड़ने को कहकर कोई संदेह नहीं रखा । दसवें अध्याय के ८ वें से ११ वें श्लोक तक भक्ति या उपासना का जो वर्णन है, उसके पहले ही कह दिया है कि "अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते" यानी सब मेरे से उत्पन्न होते हैं और मुझसे ही सब प्रवृत्त होते हैं, यहाँ तो सर्वात्म भाव प्रत्यक्ष ही है। बारहवें अध्याय के श्लोक ६ से १० तक सब कर्मों का मुझमें संन्यास या अर्पण करने और मुझ में मन और बुद्धि लगाने के लिये कहा है सो भी सब की एकता रूप मुझसे ही तात्पर्य है। इसलिये श्लोक ६ मे पहले ही "अनन्येनैव योगेन" कहकर सब की एकता में जुड़ने का नियम (provision) लगा दिया है।

अध्याय १४ में "अव्यभिचारिणी भक्ति योग से जो सेवा करता है" कहा है सो भी व्यक्ति भाव की नहीं हो सकती क्योंकि उसी के बाद के श्लोक २७ में "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्" अपनी ब्राह्मी स्थिति को साफ तौर पर रख दिया है।

ब्रह्मणोहिप्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥१४-२७॥

अर्थः—अविनाशी एवं अविकारी ब्रह्म का, शाश्वत धर्म का और एकांतिक सुख का आश्रय मै ही हूँ (१४-२७)

अध्याय १८ के श्लोक ६५-६६ तो महाक्रांतिकारी हैं। इनमे व्यक्तिभाव और उसके शरण होने की तो गुजाइश ही कैसे निकल सकती है। जरा इनके पहलेवाले ६४ वे श्लोक पर ध्यान दीजिये।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥१८-६४॥

गीता का उपदेश समाप्त करते हुए अन्त में भगवान् कहते हैं कि "सबसे अधिक गुह्य यानी सूक्ष्म रहस्यमय मेरे परम वचन सुन। तू मुझे अत्यन्त प्यारा है इसलिये तेरे हित के लिये कहता हूँ।" जिन वाक्यों को भगवान् इतना भारी महत्व देते हैं, क्या उनमें व्यक्ति उपासना या व्यक्तिगत शरणागति का कथन मात्र ही हो सकता है। व्यक्ति उपासना या व्यक्तिगत शरणागति तो साधारण मूढ़ बुद्धि के अज्ञानी लोग भी सदा करते रहते है। इसमें सबसे "अधिक सूक्ष्म रहस्य" क्या था जो भगवान् ने अपने अत्यन्त प्यारे अर्जुन को इतने बड़े अनुग्रह पूर्वक, उसके हित की कामना से कहा है। कुछ सोचना चाहिये। सारी गीता मे तो भगवान् बुद्धि योग को प्रधानता देकर, सूक्ष्म तत्वज्ञान द्वारा अपने सर्वात्म भाव का लगातार वर्णन करते आये और

११ वें अध्याय मे विश्व रूप दिखाकर अपने में सबकी एकता का प्रत्यक्ष बोध कराया। फिर यहाँ पर अन्त में "गुह्यतम परम वचन" कहते हुए पहले के सब कथन पर चौका पोता फेरकर, पूर्वापर यानी पहले कही हुई बात का पीछे की बातों से विरोध होने की परवाह न करके, मनुष्य की विचार शक्ति को दबाने वाले स्थूल व्यक्ति भाव की उपासना करने और व्यक्तिगत शरण होने के तत्त्वज्ञान शून्य उपदेश कैसे दे सकते थे। गीता में पूर्वापर के परस्पर विरोधी और असंगत उपदेश देकर भगवान् ने कहीं भी द्वन्द्व उत्पन्न नहीं किया है। परस्पर विरोधी भावनाओं का तो अर्जुन के मन में द्वन्द्व मचा हुआ ही था, जिसके निवारण के लिये ही गीता बनी है, उसमें पहले और पीछे कही हुई बातों का विरोध हो तो फिर गीता क्या हुई वह तो एक घोटाला हो गया। परन्तु गीता जैसे यथार्थ व्यवहार के आदर्श दिखानेवाले ग्रंथ में ऐसा नहीं हो सकता। यह साम्प्रदायिक लोगों का दुराग्रह और हठधर्मी है कि वे ऐसा मानते और कहते हैं।

अगर पूर्वापर की संगति मिलाकर और भगवान् कृष्ण के स्वयं बताये हुये "अहं" "माम्" आदि उत्तम पुरुष वाचक शब्दों के स्पष्टीकरण के अनुसार इन श्लोकों का अर्थ किया जाय, तो श्लोक ६५ का यह अर्थ है कि "अपने मन को सब की एकता स्वरूप मुझ मे स्थित कर ले यानी सब की एकता का दृढ़ निश्चय कर ले; सब से एकता के भाव युक्त प्रेम कर; सब की एकता के

साम्य भाव से अपने कर्म लोकसग्रह के लिये कर; सब से नम्र होकर रह; इस तरह मेरे व्यक्त स्वरूप जगत् के साथ एकता का बर्ताव करने से तू मेरे सर्वात्म भाव को निश्चय ही प्राप्त होगा, तू मेरा प्यारा है यानी मेरा ही व्यष्टि भाव है। श्लोक ६६ का अर्थ यह है कि "जो व्यक्तित्व के भाव को बढ़ानेवाले, ऊपर से माने हुए भेद-भाव के साम्प्रदायिक जाति-धर्मों और कुल-धर्मों में तैने ममता कर रखी है (गीता — अ०—१ श्लोक ४३) उन सब को पूरी तरह छोड कर सब की एकता रूप मेरी शरण मे आ, यानी अपने पृथक् व्यक्तित्व को सब के साथ जोड़कर एक हो जा। फिर मैं सब का आत्मा, सब का अपना आप, तुझे भेद जन्य सारे पापों से मुक्त कर दूँगा।" सब के साथ अपने आपको मिला देने से कोई पाप या बन्धन नही रहता। सब दुखों, संकटों और बन्धनों से मुक्त होकर पूर्ण स्वतंत्र होने का एक मात्र यही क्रांतिकारी साधन है। यह क्राति, वही आत्मज्ञानी समत्वयोगी महापुरुष कर सकता है जिसके अंत:करण मे, प्रतिक्षण बदलने और उत्पत्ति नाश होनेवाले अलग-अलग शरीरों और नाना भौतिक बनावों में एक ही नित्य निर्विकार सनातन आत्म-तत्व होने यानी सारे विश्व की एकता का दृढ़ निश्चय हो और आत्मानुभव हो और उसी निश्चय के अनुसार उसके सारे व्यवहार होते हों। भगवान् कृष्ण ऐसे ही पूर्ण आत्मानुभवी महापुरुष थे। गीता में अपने उस आत्मानुभव का उनने स्वयं वर्णन किया है :—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ २-१२ ॥

अर्थः—क्योंकि मैं, तू और ये राजा लोग पहले कभी नहीं थे ऐसी बात नहीं है और आगे नहीं होंगे ऐसा भी नहीं है (२-१२)

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चितकर्तुमर्हति ॥ २-१७ ॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ २-१८ ॥
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ २-१९ ॥

न जायते म्रियते वा कदाचि—
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २-२० ॥

अर्थः—जिससे यह सब (अखिल विश्व) व्याप्त और विस्तृत है, अर्थात् जो स्वय विश्वरूप होकर सर्वत्र फैल रहा है, उस आत्मा को तू अविनाशी अर्थात् नाश रहित जान; इस निर्विकार का कोई भी नाश नहीं कर सकता (२-१७)। हे भारत ! नित्य (अपरिवर्तनशील) अविनाशी। (नाश रहित) और अप्रमेय शरीरी (शरीर धारण करनेवाले व्यष्टि भावापन्न आत्मा) के ये (नाम रूपात्मक अनन्त) शरीर नाशवान हैं,

अतएव तू युद्ध कर (२-१८)। जो इस (शरीरधारी आत्मा) को मारनेवाला, और जो इसको मारा गया मानता है, वे दोनों ही अनजान हैं; यह (शरीरधारी आत्मा) न तो किसी को मारता है, न किसी से मारा जाता है (२-१९) यह न तो कभी जन्मता है, न मरता है; और ऐसा भी नहीं है कि यह (पहले) होकर फिर नहीं होगा। यह कभी उत्पन्न नहीं होता, सदा विद्यमान (और) एक समान रहता है, तथा पुराना (सब का आदि कारण) है; शरीर के मारे जाने पर भी (यह) मारा नहीं जाता (२-२०)।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि नत्वं शोचितुमर्हसि ॥ २-३० ॥

अर्थः—हे भारत ! सब के शरीरों में (जो एक ही) देही (आत्मा है, वह) कभी मारा जानेवाला नहीं है, इस कारण तुझे किसी भी भूत प्राणी के विषय में शोक नहीं करना चाहिये (२-३०)!

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यःपरं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ३-४२ ॥
एवं बुद्धेः परंबुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रु महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ३-४३ ॥

अर्थः—(स्थूल पदार्थों से) इन्द्रियाँ परे अर्थात् ऊपर कही जाती हैं; इन्द्रियों से परे मन और मन से परे बुद्धि है, तथा जो बुद्धि से भी परे है, वह (आत्मा) है (३-६२)।

हे महाबाहो ! इस प्रकार बुद्धि से परे उस (आत्मा) को जान कर, अपने वास्तविक आप-आत्मा में स्थित होकर, काम रूपी दुर्जय शत्रु को मार (३-४३)।

योो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ६-३० ॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ६-३१ ॥

अर्थः—जो मुझ अर्थात सबके आत्मा=परमात्मा को सब में देखता है और सबको मुझ मे देखता है उससे मैं अलग नहीं होता और न वह मुझसे अलग होता है (६-३०)। जो (सब के) एकत्व-भाव में अच्छी तरह स्थित होकर, सब भूतों में रहनेवाले मुझको भजता है, अर्थात् सब भूत-प्राणियों को अपने और सब के आत्मा=परमात्मा स्वरूप मेरे अनेक रूप समझकर सब के साथ एकता का प्रेम रखता है, वह समत्व योगी सब प्रकार से वर्तता हुआ भी मुझ (सब के आत्मा=परमात्मा) में ही वर्तता है, अर्थात् सब प्रकार के सांसारिक व्यवहार करता हुआ भी वह परमात्मा स्वरूप मुझ में ही स्थित रहता है (६-३१)।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च।
अहंकारं इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ७-४ ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीव-भूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत ॥ ७-५ ॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ७-६ ॥
मत्तःपरतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयिसर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७-७ ॥
रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशि सूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ७-८ ॥
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्व भूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ७-९ ॥
बीजं मां सर्व भूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ ७-१० ॥
बल बलवतां चाहं काम राग विवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोस्मि भरतर्षभ ॥ ७-११ ॥
ये चैव सात्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ ७ १२ ॥

अर्थः—पृथ्वी, जल, तेज (अग्नि), वायु (हवा) आकाश (अवकाश या पोल) मन, बुद्धि और अहकार—इस प्रकार यह आठ भेदोंवाली प्रकृति अलग है । यह (मेरी) अपरा प्रकृति है; और इससे दूसरी जीव-भाव वाली मेरी परा प्रकृति जान, जिससे हे महाबाहो ! यह जगत धारण किया जाता है। ऐसा समझ कि इन (दोनों) प्रकृतियों से ही सब भूत प्राणियों की उत्पत्ति होती है, अतः अखिल विश्व का प्रभव और प्रलय अर्थात् आदि और अन्त मै ही हूँ (७-४ से ६) । हे धनञ्जय । मुझ

से परे अर्थात् मुझसे वस्तुतः भिन्न कुछ भी नहीं है; सूत में पिरोये हुए मणियों की तरह यह सब कुछ मुझ में पिरोया हुआ है (७-७)। हे कौंतेय! जल में रस मैं हूँ; सूर्य और चन्द्रमा में ज्योति मैं हूँ; सब वेदों में ओंकार मैं हूँ; आकाश में शब्द और पुरुषों में पुरुषत्व मैं हूँ। पृथ्वी में विकार रहित गंध और अग्नि में तेज मैं हूँ; सब भूत प्राणियों मे जीवन और तपस्वियों में तप मैं हूँ। हे पार्थ! सब भूतों का सनातन बीज (सदा बना रहनेवाला कारण) मुझे जान; बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज मैं हूँ। काम और राग के विकारों से रहित बलवानों का बल मैं हूँ; और हे भरत श्रेष्ठ! प्राणीमात्र में धर्मानुकूल काम अर्थात् स्वाभाविक इच्छा मैं हूँ (७-८ से ११)। और जो सात्विक और जो राजस तथा तामस भाव हैं वे मुझसे ही हैं, ऐसा जान; और यद्यपि वे मुझ मे हैं परन्तु मै उनमें नहीं हूँ (७-१२)।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्त मूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ९-४ ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य में योगमैश्वरम्।
भूत भृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूत भावनः ॥ ९-५ ॥
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुःसर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ९-६ ॥
सर्व भूतानि कौंतेय प्रकृतिं याति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम ॥ ९-७ ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ९ ८ ॥
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९-९ ॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौंतेय जगद्विपरिवर्तते ॥ ९-१० ॥

अर्थः—मेरे अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों के अगोचर (अध्यात्म) भाव से यह सम्पूर्ण जगत व्याप्त हो रहा है; सब भूत मुझ मे स्थित यानी ठहरे हुए हैं, (परन्तु) मैं उनमे अवस्थित नहीं हूँ, अर्थात् उनमे रुका हुआ, उनमे परिमित अथवा उनके आश्रित नहीं हूँ। और (ये) भूत भी (वस्तुतः) मुझ मे स्थित नहीं है; मेरा ईश्वरीय (अलौकिक) योग अर्थात् अद्भुत माया—शक्ति का कौशल देख (कि) मेरा आत्मा (सबका अपना आप) भूतों का उत्पादन और धारण करता हुआ भी भूतों मे स्थित नहीं है, अर्थात् उनमें रुका हुआ नहीं है अथवा उनपर निर्भर नहीं है (९-४-५) जिस प्रकार सर्वत्र बहनेवाला महानवायु सर्वदा आकाश में स्थित है, उसी प्रकार सब भूत मुझ में स्थित हैं ऐसा समझ (९-६)। हे कौंतेय ! कल्प के अन्त मे सब भूत मेरी प्रकृति में विलीन हो जाते हैं, और कल्प के आदि मे मैं पुनः उन (भूतों) को रचता हूँ (९ ७)। मैं अपनी प्रकृति के द्वारा, प्रकृति के आधीन रहनेवाले इस सम्पूर्ण भूत-समुदाय को वारवार रचता हूँ (९-८) और हे धनञ्जय ! उन (सृष्टि की रचना,

संहार एवं धारण आदि) कर्मों में उदासीन की तरह अनासक्त रहनेवाले मुझको वे कर्म नहीं बाँधते (६-६) हे कौंतेय ! मेरी अध्यक्षता से प्रकृति स्थावर-जंगम सृष्टि का निर्माण करती है इस कारण से जगत् विविध प्रकार से प्रवर्तित होता रहता है, अर्थात् जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का चक्कर लगता रहता है (६-१०) ।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ ६-१६ ॥
पितामहस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्य पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥ ६-१७ ॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ ६-१८ ॥
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ ९-१६ ॥

अर्थ :— क्रतु "मैं" हूँ; यज्ञ "मैं" हूँ; स्वधा "मैं" हूँ; औषध "मैं" हूँ; मंत्र "मैं" हूँ; घृत "मैं" हूँ; अग्नि "मैं" हूँ; हवन "मैं" हूँ (६-१६) ।

इस जगत का पिता, माता, धाता और पितामह "मैं" हूँ। वेद्य, पवित्र, ओंकार, ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद आदि भी "मैं" ही हूँ (९-१७) ।

गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृद, प्रभव, प्रलय, स्थान, निधान और अव्यय बीज "मैं" हूँ (६-१८) ।

"मैं" तपाता हूँ, "मै" वर्षा को रोकता और छोड़ता हूँ; और हे अर्जुन अमृत और मृत्यु भी (मैं ही हूँ) और सत् भी "मैं" ही हूँ अर्थात् "मैं" ही त्रिकाल अबाधित अविनाशी सत्य आत्म-तत्व हूँ और "मैं" ही निरंतर परिवर्तनशील एव कल्पित जगत का नाशवान् दृश्य-प्रपञ्च हूँ (६-१६)।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणा च सर्वशः ॥१०-२॥
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥१०-३॥
बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुख दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥१०-४॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥१०-५॥
महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥१०-६॥

अर्थः—मेरे प्रभव अर्थात् उत्पत्ति अथवा प्रभाव यानी महिमा को न तो देवता लोग जानते हैं और न महर्षिगण ही, क्योंकि मैं सब देवताओं और महर्षियों का भी आदि हूँ। जो मुझ (आत्मा अथवा परमात्मा) को अज अर्थात् जन्म से रहित, अनादि अर्थात् आरंभ से रहित और सब लोकों का महान ईश्वर जानता है, वह मनुष्य मोह से रहित (होकर) सब पापों से मुक्त हो जाता है (१०-२,३) बुद्धि अर्थात् विचार

शक्ति, ज्ञान अर्थात् सत्-असत् का विवेक, असंमोह अर्थात् कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विषय में विमूढ़ न होना, क्षमा अर्थात् सहनशीलता, सत्य अर्थात् सच्चाई, दम अर्थात् इन्द्रियों का निग्रह, शम अर्थात् मन का संयम, सुख अर्थात् अनुकूल वेदना, दुःख अर्थात् प्रतिकूल वेदना, भाव अर्थात् होना और अभाव अर्थात् न होना, भय अर्थात् डर और अभय अर्थात् निडरता, अहिंसा अर्थात् किसी को किसी प्रकार की पीड़ा न देना, समता अर्थात् अनुकूलता एवं प्रतिकूलता में एक समान रहना, तुष्टि अर्थात् तृप्ति, तप (सत्रहवें अध्याय में वर्णित तीन प्रकार का शिष्टाचार), दान अर्थात् द्रव्य का देना, यश अर्थात् कीर्ति, अयश अर्थात् निन्दा इत्यादि, प्राणियों के भिन्न-भिन्न प्रकार के भाव मुझ आत्मा अथवा परमात्मा से ही होते हैं। तात्पर्य यह है कि प्राणियों के अंतःकरण के जो बीस प्रकार के भाव इन दो श्लोकों में गिनाये हैं, और इनके अतिरिक्त काम, क्रोध, हर्ष शोक, राग, द्वेष, भूख, प्यास आदि और भी अनेक प्रकार के जो भाव होते हैं, वे सब आत्मा अथवा परमात्मा की चेतना शक्ति से होते हैं—जहाँ आत्मा की विशेष चेतना होती है वहीं ये भाव होते हैं। पूर्व के सात महर्षि और चार मनु, मेरे संकल्प से उत्पन्न होने वाले भाव हैं जिनसे जगत में यह प्रजा हुई है (१०-४-६)।

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
परुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १०-१२ ॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १०-१३ ॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १०-१४ ॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १०-१५ ॥

अर्थ :—अर्जुन ने प्रार्थना की कि आप परम ब्रह्म हो, परम धाम हो, परम पवित्र हो; सब ऋषि लोग, देवर्षि नारद, असित, देवल, व्यास आपको पुरुष अर्थात् परमात्मा, शाश्वत अर्थात् सदा रहनेवाला, दिव्य अर्थात् स्वतः प्रकाशमान, आदिदेव अर्थात् सब देवों का आदि, अज अर्थात् जन्म से रहित और विभु अर्थात् सर्व व्यापक कहते हैं, और आप स्वयं भी मुझे ऐसा ही कहते हो। हे केशव! आप मुझे जो कुछ कहते हो, उस सब को मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवान्! आपकी व्यक्ति अर्थात् आप के व्यक्त होने के रहस्य को अथवा आपके निर्दिष्ट व्यक्तित्व को न देव जानते हैं न दानव ही। हे पुरुषोत्तम! हे भूतों के उत्पन्न करनेवाले! हे भूतों के स्वामी! हे देवों के देव! हे जगत्पते! आप स्वयं ही अपने आपको जानते हो (१०.१२-१५)।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ १०-२० ॥

अर्थ:—हे गुडाकेश ! मै आत्मा सब भूत प्राणियों के हृदय (अंत:करण) में रहता हूँ; मैं ही भूत प्राणियों का आदि, मध्य और अन्त भी हूँ।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ १०-३९ ॥
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतिनां परन्तप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ १०-४० ॥
यद् यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥ १०-४१ ॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ १०-४२ ॥

अर्थ :—और हे अर्जुन ! सब भूत का जो बीज है वह भी मैं ही हूँ; ऐसा कोई चर अचर भूत प्राणी नहीं है, जो मेरे बिना हो, अर्थात् मैं ही जगत रूप होकर स्थित हूँ, मेरे सवाय और कुछ भी नहीं है (१०-३९)। हे परन्तप ! मेरी दिव्य विभूतियों का कोई अन्त नहीं है; यह विभूतियों का वर्णन तो मैंने नाम मात्र के लिए (नमूने के तौर पर) कहा है (१०-४०)। जो जो सत्व अर्थात् जो जो व्यक्ति, पदार्थ अथवा वस्तु, विशेप कला अथवा विशेष योग्यता से सम्पन्न हो अथवा सम्पत्ति, प्रतिष्ठा, कांति, सुन्दरता, शोभा एवं शुभ लक्षणों से युक्त—विशेप रूप से चित्ताकर्षक हो; अथवा विशेष शक्ति, तेज, ओज, प्रतिभा, प्रभाव साहस, महानता, उच्चता, उदारता, गम्भीरता आदि से युक्त—

विशेप सम्माननीय एवं प्रख्याति प्राप्त हो, उस उसको तू मेरे ही तेज से उत्पन्न हुआ समझ, अर्थात् उसमें आत्मा का विशेप रूप से विकास जान (१०-४१) और हे अर्जुन ! तुझे इस बहुत से विस्तार को जानकर क्या करना है ? (तू यही समझ कि) मैं इस संपूर्ण जगत को (अपने) एक अंश से व्याप्त कर के स्थित हूँ, अर्थात् मुझ मे जो अनन्त ब्रह्माण्डों का दृश्य बनता और लय होता रहता है, उस सब मे से यह भी एक छोटा-सा जगत है (१०-४२)

इदं शरीरं कौंतेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १३-१ ॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्व क्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्र क्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञान मत मम ॥ १३-२ ॥

अर्थ :—हे कौंतेय ! इस शरीर को क्षेत्र कहते हैं, और इसको जो जानता है, अर्थात् जिसे यह अनुभव होता है कि "यह शरीर अथवा क्षेत्र है" उसे, इस विषय को जानकर अर्थात् तत्ववेत्ता लोग, क्षेत्रज्ञ कहते हैं (१३ १)। और हे भारत ! सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही जान; क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है, वही मेरा (परमात्मा का) ज्ञान माना गया है (१३-२)

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ १४-३ ॥
सर्वयोनिषु कौंतेय मूर्तयः सभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ १४-४ ॥

अर्थः—हे भारत ! महद् ब्रह्म अर्थात् प्रकृति मेरी योनि है, जिसमें मैं गर्भ रखता हूँ, उस से सब भूतों की उत्पत्ति होती है (१४-३) हे कौंतेय ! सब योनियों में जो जो नाना रूपों वाले बनाव अथवा शरीर उत्पन्न होते हैं उनकी प्रकृति माता है और मैं बीज देनेवाला पिता हूँ (१४-४)

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ १५-६ ॥

ममैवांशो जीवलोके जीव भूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानींद्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ १५-७ ॥

शरीरं यद्वाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गंधानिवाशयात् ॥ १५-८ ॥

अर्थः—उस पद को न सूर्य प्रकाशित करता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही; जहाँ जाने पर फिर लौटना नहीं पड़ता, वह मेरा परमधाम है (१५-६) ।

मेरा ही सनातन अंश जीवलोक मे जीव भाव होकर, प्रकृति में रहनेवाली, मन को आदि लेकर छः इन्द्रियों को खींच लेता है (१५-७) ।

ईश्वर अर्थात् प्रकृति का स्वामी व्यष्टि-भावापन्न आत्मा (जीवात्मा), जिस शरीर को धारण करता है और जिसको छोड़ कर निकलता है, (उस समय) जिस तरह वायु (गंध

वाले पदार्थों से) गंध को ले जाता है, उसी तरह यह इनको अपने साथ ले जाता है (१५-८)।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धिमामकम् ॥ १५-१२ ॥
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १५-१३ ॥
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १५-१४ ॥
सर्वस्य चाहं हृदिसन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५-१५॥

अर्थः—सूर्य में रहनेवाला जो तेज अखिल विश्व को प्रकाशित करता है, और जो तेज चन्द्रमा मे है, और जो तेज अग्नि में है, वह तेज मेरा ही समझ (१५ १२)। मैं पृथ्वी में व्याप्त होकर अपनी शक्ति से सब भूतों को धारण करता हूँ, रस रूप सोम होकर सब वनस्पतियों का पोषण करता हूँ (१५-१३)।

मैं प्राणियों के शरीरों मे रहता हुआ वैश्वानर अर्थात् जठराग्नि होकर प्राण अपान वायु से युक्त हुआ चार प्रकार के आहार को पचाता हूँ (१५-१४)।

और मै सब के हृदय में रहता हूँ, मुझसे ही स्मृति, ज्ञान तथा उनका अभाव होता है; और सब वेदों द्वारा जानने योग्य

मैं ही हूँ; एवं वेदान्त का कर्ता और वेदों का जाननेवाला भी मैं ही हूँ (१५-१५)।

पहला मित्र—इन श्लोकों से तो यह बात साफ हो जाती है कि भगवान् कृष्ण ने गीता में जो कुछ कहा है वह जगत से अलग व्यक्तिभाव से नहीं कहा है किन्तु सब की एकता के सर्वात्म-भाव से कहा है।

मैं—केवल कहा ही नहीं है किन्तु ११ वें अध्याय में अर्जुन को मनोयोग की दिव्य दृष्टि से अपने मनोमय शरीर में सारे जगत को दिखाकर अपने समष्टि-भाव के दृढ़ निश्चय का प्रत्यक्ष अनुभव करा दिया। ११ वें अध्याय की विस्तृत व्याख्या मेरे लिखे हुए "गीता का व्यवहार दर्शन" ग्रंथ में आप लोग देख सकते हैं।

दूसरा मित्र—तो ये भक्ति-मार्ग वाले साम्प्रदायिक लोग गीता के अनुयायी होते हुए भी भगवान् कृष्ण को जगत से और अपने से अलग ईश्वर मानकर, व्यक्ति भाव से उनकी भेद उपासना किस आधार पर करते हैं ?

मैं—ये लोग संकीर्ण साम्प्रदायिक कट्टरता का चश्मा चढ़ा लेने के कारण या हठधर्मी के दुराग्रह से अर्थ का अनर्थ करते हैं। भगवान् कृष्ण ने गीता में अपने को व्यक्ति भाव से परे बताया है और उन्हे एक विशेष व्यक्ति माननेवाले भेद उपासकों को कड़े शब्दों में निंदा करके बहुत फटकारा है। देखिये:—

अव्यक्त व्यक्तिमापन्नं मन्यते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ ७-२४ ॥
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः ।
मूढोऽयं नाभि जानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ ७ २५ ॥
वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ ७-२६ ॥
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे याति परन्तप ॥ ७ २७ ॥
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ ७-२८ ॥
जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ ७-२९ ॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञ च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मा ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ७-३० ॥

अर्थ—मूर्ख लोग मेरे अव्यय यानी सदा एक सा रहनेवाले उत्तमोत्तम परम-भाव को न जान कर मुझ अव्यक्त को व्यक्ति भावापन्न हुआ मानते है (७ २४) ।

मैं अपनी योगमाया से ढका हुआ, अर्थात् अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा रचे हुए आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक जगत के नाना भाँति के नामरूपात्मक बनावों से आच्छादित हुआ, सब लोगों के दृष्टिगोचर नहीं होता; (इसलिये) मूढ़ जनता, उत्पत्ति और विनाश से रहित मुझ (अनादि-अनंत) को

वस्तुतः नहीं जानती (७-२५)। हे अर्जुन ! जो पहले हो चुके हैं, वर्तमान में हैं और भविष्य में होंगे, उन सब भूतप्राणियों को मैं जानता हूँ, परन्तु मुझको कोई भी (यथार्थ रूप से) नहीं जानता (७-२६)।

हे परन्तप ! हे भारत ! संसार में सभी भूतप्राणी इच्छा (राग) और द्वेष से उत्पन्न नाना प्रकार के द्वन्द्वों के मोह से मोहित हो रहे हैं (७-२७)।

परन्तु जिन पुण्य-कर्म करनेवाले पुरुषों के पापों का अन्त हो जाता है, वे द्वन्द्वों (परस्पर विरोधी भावों के जोड़ों) के मोह को छोड़कर दृढ़ता पूर्वक मुझे भजते हैं (७-२८)।

जरा (बुढापा) और मृत्यु से छुटकारा पाने के लिए जो मेरा आश्रय लेकर यत्न करते हैं, वे उस ब्रह्म को तथा सारे अध्यात्म को और सम्पूर्ण कर्म को भी जान लेते हैं (७-२९)।

और वे अधिभूत, अधिदेव और अधियज्ञ सहित मुझको भी जान लेते हैं, तथा शरीर छूटने पर भी वे समाहित-चित्त वाले पुरुष मुझ परमात्मा को (सबके आत्म रूप से) जानते हैं (७-३०)।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥८-२०॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ८-२१॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥८-२२॥

अर्थः—परन्तु उस अव्यक्त (कारण प्रकृति भाव) से भी परे जो दूसरा सनातन अव्यक्त भाव (आत्मा अथवा परमात्मा है) वह सब भूतों के नाश होने पर भी नष्ट नहीं होता (८-२०) ।

जिस अव्यक्त को 'अक्षर' ऐसा कहते है, जिसे प्राप्त होकर फिर लौटना नहीं पड़ता; वह मेरा परम धाम (परमात्म-भाव) है (८-२१) ।

हे पार्थ ! वह परम पुरुष अनन्य भक्ति से प्राप्त होता है, जिसके अन्दर सब भूत स्थित हैं और जिससे यह सब (संसार) व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण हो रहा है । (८-२२) ।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥९-११॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥९-१२॥
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥९-१३॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥९-१४॥
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥९-१५॥

अर्थ:—मूर्ख लोग (सब) भूतों, यानी अखिल विश्व के महान् ईश्वर-स्वरूप मेरे परम भाव को न जानते हुए, (मुझे) मानव-देहधारी (कोई व्यक्ति या शरीर विशेष) समझकर मेरी अवज्ञा (तिरस्कार) करते हैं। (६-११)।

(वे) झूठी आशायें रखनेवाले, फिजूल कर्म करनेवाले, (तथा) मिथ्या (विपरीत) ज्ञान वाले, वे समझ लोग राक्षसी और आसुरी तामसी प्रकृति का आश्रय किये रहते हैं। (६-१२)।

परन्तु हे पार्थ ! दैवी प्रकृति का आश्रय करनेवाले महात्मा लोग, यानी विवेकी सज्जन पुरुष, मुझ (सबके आत्मा= परमात्मा) को विश्व का आदि और सब विकारों से रहित जानकर अनन्य भाव से (अभेद) उपासना करते हैं। (९-१३)।

दृढ़ व्रत होकर यत्न करते हुए, निरंतर मेरा कीर्तन करते हैं और भक्ति पूर्वक मुझे नमस्कार करते हैं; और सब की एकता के साम्य भाव में मन लगाकर सदा मेरी उपासना करते रहते हैं (९-१४)।

और दूसरे लोग ज्ञान यज्ञ से अर्थात सात्विक विचारों द्वारा भी मेरा भजन करते हुए, एकता के भाव से, अथवा पृथक्ता के भाव से, बहुत प्रकार से मेरे विश्व रूप की उपासना करते हैं। (९-१५)।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥९-२२॥

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ ६-२३ ॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ ६-२४ ॥

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपिमाम् ॥६-२५॥

अर्थः—परन्तु जो लोग अनन्य—भाव से मेरा चिन्तन करते हुए निष्काम उपासना करते है, उन (मेरी अनन्य भाव की उपासना में) सदा लगे रहनेवाले, भक्तों का योग अर्थात् अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति, और क्षेम अर्थात् प्राप्त पदार्थों की रक्षा, मैं (सबका आत्मा = परमात्मा) किया करता हूँ (९-२२) जो भक्त लोग श्रद्धापूर्वक दूसरे देवताओं का पूजन करते हैं, वे भी, हे कौन्तेय ! मेरा ही पूजन करते हैं, (परन्तु) वह विधि-पूर्वक (यथार्थपूजन) नहीं होता, अर्थात् मेरे सच्चे पूजन की विधि जैसी ऊपर श्लोक १३-१४ मे कही है उसके अनुसार नहीं होता । क्योंकि (यद्यपि) 'मै' ही सब यज्ञों का भोक्ता हूँ और 'मैं' ही सबका मालिक हूँ, परन्तु वे मुझे तत्वतः नहीं जानते, इसलिए उनका पतन हो जाया करता है । (६-२३।२४) ।

देवताओं के उपासक देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों के उपासक पितरों को प्राप्त होते हैं, भूतों की पूजा करनेवाले

भूतों को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं (६-२५) ।

द्वाविमौ पुरुषौलोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १५-१६ ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १५-१७ ॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १५-१८ ॥
यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्व भावेन भारत ॥ १५-१६ ॥
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्त मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ १५-२० ॥

अर्थः—इस जगत में क्षर अर्थात् निरंतर बदलनेवाला नाशवान, और अक्षर अर्थात् सदा एक-सा रहनेवाला अवि-नाशी—ये दो पुरुष अर्थात् शक्तियाँ हैं; सब भूतों को क्षर (नाश-वान) और कूटस्थ अर्थात् उन सब भूतों के आधार को अक्षर (अविनाशी) कहा जाता है। परन्तु इन दोनों से उत्तम पुरुष और है; वह परमात्मा कहा जाता है, जो सदा एक-सा रहनेवाला ईश्वर, तीनों लोकों में व्याप्त होकर सबको धारण करता है (१५-१६-१७) ।

क्योंकि "मैं" क्षर अर्थात् निरन्तर बदलनेवाली अपरा—प्रकृति रूप जड़ भाव से परे, और अक्षर अर्थात् सदा एक समान

रहनेवाली परा प्रकृति रूप चेतन पुरुष अथवा व्यष्टि जीव भाव से भी उत्तम हूँ, इसलिए लोकों और वेदों मे "मैं" पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ (१५-१८)। जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार पुरुषोत्तम जानता है, वह सब कुछ जाननेवाला सब प्रकार से मुझे ही भजता है (१५-१९)। इस प्रकार हे अनघ ! मैंने यह गुह्यतम अर्थात् अत्यन्त रहस्यमय शास्त्र कहा है; हे भारत ! इसे समझ कर बुद्धिमान पुरुष कृतकृत्य होता है (१५-२०)।

अहंकार बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिता: ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयका: ॥ १६-१८ ॥
तानहं द्विषत: क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १६-१९ ॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि-जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौंतेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ १६-२० ॥

अर्थ:—अहंकार, बल, घमण्ड, काम और क्रोध से भरे हुए, दूसरे मे दोष देखनेवाले (वे) ईर्षालु लोग, अपने तथा दूसरों के शरीरों में रहनेवाले मुझ (परमात्मा) से द्वेष करते हैं (१६-१८)।

उन द्वेष करनेवाले दुष्ट, पातकी, अधम पुरुषों को "मैं" ससार में सदा आसुरी योनियों मे ही पटकता हूँ (१६-१९)।

हे कौंतेय ! वे मूढ़ लोग जन्म-जन्म में उन आसुरी योनियों को प्राप्त होते हुए मुझे न पाकर उत्तरोत्तर नीचे ही गिरते रहते हैं (१६-२०)।

मैं—इन श्लोकों में, भगवान् को जगत से अलग एक विशेष व्यक्ति माननेवाले भेद उपासकों को असंदिग्ध शब्दों में जो बुरा भला कहा गया है, और भगवान् के सर्वोत्तम भाव की उपासना का जो महत्व बताया गया है, वह छिपा नहीं रह सकता; चाहे अर्थ करने में कितनी ही खींचा-तानी क्यों न की जावे।

तीसरा मित्र—दसवें अध्याय के २५ वें श्लोक में "यज्ञानां जप यज्ञोस्मि" कह कर नाम जप की उपासना का महत्व कहा है, इससे भेद उपासना का विधान पाया जाता है।

मैं—इस श्लोक में नाम जपने का विधान कहाँ है? विधान तो वह होता है जहाँ आज्ञा वाचक शब्दों का प्रयोग हो या जिस क्रिया के करने का महत्व बताया गया हो। यहाँ तो विभूतियों का वर्णन है। यानी अर्जुन के प्रार्थना करने पर जिस जिस व्यक्ति या शक्ति या पदार्थ या विषय में आत्मा का विशेष रूप से चमत्कार या अभिव्यक्ति प्रतीत होती है उनका वर्णन है। यहाँ उपासना का प्रसंग ही नहीं है किन्तु इस वर्णन के अंत में श्लोक ४२ में यह कह दिया है कि—

"अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।

अर्थ—हे अर्जुन! इन सब को जानने से तेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा।" इस से साफ है कि भगवान् इस वर्णन को कोई महत्व नहीं देते और न किसी विषय का विधान करते हैं। यदि "यज्ञानां जप यज्ञोस्मि" कहने मात्र से जप करने की आज्ञा या विधान मान लिया जाय तो फिर इसी श्लोक के अंतिम भाग

में "स्थावराणाम् हिमालयः" यानी "स्थिर रहनेवालों में हिमालय पर्वत "मैं" हूँ और विभूति वर्णन के दूसरे श्लोकों में जहाँ "सब वृक्षों में पीपल मैं हूँ, हाथियों में ऐरावत, घोड़ों में उच्चैश्रवा, सर्पों में वासुकि, नागों में अनन्तनाग, पशुओं में सिंह, जलचरों में मगर, सब हरनेवालों में मृत्यु, छलियों मे जुवा, दमन करने वालों का दण्ड आदि मैं हूँ, कहा है; इन वाक्यों से क्या विधान निकालोगे ? क्या भगवान् सब लोगों को "हिमालय, पीपल, ऐरावत, उच्चैश्रवा, वासुकि, अनन्तनाग, शेर, मगर, मृत्यु, जुवा और दण्ड आदि के सेवन करने को कहते हैं ? किसी एक स्थल पर "जप" शब्द आ जाने मात्र से उसे पकड़ कर उसका विधान मान लेना, पूर्वापर का कोई विचार न करना और न प्रसंग को देखना, यही तो खींचा-तानी है।

दूसरा मित्र—यहाँ जप यज्ञ की विशेषता तो अवश्य ही कही है।

मैं—हाँ ! दूसरे यज्ञों की अपेक्षा, जप यज्ञ की विशेषता अवश्य ही बताई है, जिससे दूसरे कर्म काण्डों का कोई महत्व नहीं रह जाता। परन्तु यह विधान कहाँ है कि मेरे अमुक नाम यानी "राम, कृष्ण, शिव, विष्णु, वासुदेव" आदि का जाप करो या इन नामों का जाप करनेवाला ही श्रेष्ठ होता है, या उसी का कल्याण होता है। नाम तो किसी न किसी व्यक्ति या पदार्थ या विषय का कल्पित किया जाता है और जहाँ व्यक्तित्व के भाव ही को झूठा, निंदनीय, त्यागने योग्य बताया जाता है, वहाँ किसी

नाशवान व्यक्ति के नाशवान नाम विशेष की उपासना का विधान कैसे हो सकता है? इसी अध्याय के ३७ वें श्लोक में "वृष्णिनाम् वासुदेवोस्मि" यानी "वृष्णि वंशी यादवों में वासुदेव का पुत्र कृष्ण मैं हूँ" कहकर व्यक्ति कृष्ण को नाशवान विभूतियों में गिनाया है; तो फिर नाशवान शरीर के नाशवान नाम के जप का विधान मानना विल्कुल असंगत है। ७ वे अध्याय से लेकर १२ वें अध्याय तक ६ अध्याय भक्तिमार्ग वाले, भक्ति प्रधान मानते हैं। इन छहों अध्यायों में कही भी नाम जप की उपासना का विधान नहीं है। १२ वें अध्याय मे जहाँ अपने प्यारे यानी उत्तम भक्तों के लक्षण कहे हैं, वहाँ भी यह कहीं भी नही कहा कि मेरे अमुक नाम का जप करनेवाला या इतनी मालायें फेरनेवाला भक्त मुझे प्यारा है। यदि गीता में किसी विशेप नाम जपने का विधान होता तो कम से कम इन अध्यायों में तो अवश्य ही उसका वर्णन आता।

दूसरा मित्र—तो फिर जप यज्ञ का क्या तात्पर्य है?

मैं—जप का यह तात्पर्य नहीं है कि किसी शब्द या अक्षर को तोते या फोनोग्राफ की तरह बार-बार मुख से दोहराये जाना। किन्तु जप का अर्थ है—किसी विषय का बार-बार स्मरण या चिन्तन करना और गीता में निरंतर आत्मचिन्तन और सर्वात्म भाव का स्मरण करते रहने का विधान है।

तस्मात्सर्वेपु कालेपु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोवुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥ ८-७॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिंतयन् ॥ ८-८ ॥
कविंपुराणमनुशासितारमणोरणीयांस मनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसःपरस्तात् ॥८-९ ॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स त परं पुरुषमुपैति
दिव्यम् ॥ ८-१० ॥
यदक्षरं वेदविदो वन्दन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ८-११ ॥
सर्वद्वाराणि सयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ ८-१२ ॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यःप्रयाति त्जन्देह स याति परमा गतिम् ॥ ८-१३ ॥

अर्थः—इसलिए तू सब काल में मेरा स्मरण करता रह और युद्ध भी कर; मन और बुद्धि को मुझ मे लगा देने से तू निसदेह मुझ ही को प्राप्त होगा (८-७) ।

हे पार्थ ! अभ्यास-योग से युक्त होकर, अर्थात् मुझ परमात्मा का सदा स्मरण रखता हुआ सासारिक व्यवहार करने के अभ्यास में निरंतर लगा रहकर, तथा चित्त को दूसरी तरफ न जाने देकर दिव्य परम पुरुष (परमात्मा) का चिन्तन करते रहने से अर्थात सब कुछ परमात्मा-स्वरूप समझने से मनुष्य (उसे ही) प्राप्त होता है (८-८) ।

जो मनुष्य मृत्यु के समय भक्ति से युक्त होकर, और योग के बल से मन को निश्चल करके, दोनों भौंओं के बीच में प्राण यानी दृष्टि को अच्छी तरह ठहरा कर, कवि अर्थात् सर्वदर्शी-सर्वज्ञ, पुराण अर्थात् सबसे प्राचीन, अनुशासन करनेवाले अर्थात् सबके नियंता, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, सबके धारण करनेवाले, अचिंत्य रूप अर्थात् मन के अगोचर स्वरूप वाले, अन्धकार अथवा अज्ञान से परे, आदित्यवर्ण अर्थात् प्रकाशमान् परमात्मा का स्मरण करता है, वह उस दिव्य परम-पुरुष (परमात्मा) को पाता है (८-९।१०)।

वेद के जाननेवाले जिसे अक्षर कहते है, वीतराग अर्थात् आसक्ति रहित यति जिसमें प्रवेश करते हैं, (और) जिसकी इच्छा करके ब्रह्मचर्य-व्रत का आचरण करते हैं, वह पद यानी परमात्म-भाव मैं तुझे संक्षेप में बतलाता हूँ (८-११)।

(इंद्रियरूपी) सब द्वारों को रोककर, मन को हृदय में स्थिर करके और अपने प्राण को मस्तक में ठहराकर, योग धारण में स्थित हुआ, (और) ॐ इस एकाक्षर ब्रह्म के उच्चारण यानी जाप पूर्वक मुझ परमात्मा का चिन्तन करता हुआ जो शरीर छोड़ता है, उसे परमगति प्राप्त होती है (८-१२।१३)

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधिः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताःपुरा ॥ १७-२३ ॥
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ १७-२४ ॥

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपः क्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥ १७-२४ ॥
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ १७-२६ ॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीय सदित्येवाभिधीयते ॥ १७-२७ ॥

अर्थः—'ओं-तत्-सत्' यह तीन प्रकार का निर्देश ब्रह्म का कहा गया है; पूर्वकाल में इससे ब्राह्मणों, वेदों और यज्ञों की व्यवस्था की गई थी (१७-२३)।

इसलिए विद्वान् पुरुषों के यज्ञ, दान और तप की विधिवत क्रियायें सदा "ओं" का उच्चारण करके हुआ करती हैं (१७-२४)।

"तत्" इस शब्द का उच्चारण करके फल की चाह छोड़कर मोक्षार्थी जन यज्ञ, तप और दान आदि की अनेक प्रकार की क्रियाये करते रहते है (१७-२५)।

सत् भाव और श्रेष्ठ भाव में "सत्" शब्द का प्रयोग किया जाता है; और हे पार्थ ! इसी प्रकार उत्तम कर्मों के लिए भी "सत्" शब्द प्रयुक्त होता है। यज्ञ, तप और दान में प्रवृत्ति को भी "सत्" कहते हैं, और उनके निमित्त का कर्म भी "सत्"कहा जाता है (१७-२६।२७)।

इन श्लोकों में सारे विश्व की एकता स्वरूप सर्व व्यापक आत्मा या परमात्मा का चिन्तन या स्मरण करने का विधान है

और उस एकता स्वरूप परमात्मा का वाचक "ओं" एक अक्षर है, जिसके स्मरण और उच्चारण द्वारा एकता का चिन्तन होता है। "ओं" में अ, उ और म् इन तीन मात्राओं का योग या मेल है, जिससे स्थूल, सूक्ष्म और कारण रूप से तीन भावों वाले सारे जगत की एकता रूप परमात्मा का चिन्तन करना चाहिए। जिस तरह "ओं" में तीन अक्षरों की एकता है, उसी तरह स्थूल-सूक्ष्म और कारण रूप से तीनों भावों वाले जगत में सत्-चित् आनन्द स्वरूप समष्टि परमात्मा की एकता है और प्रत्येक व्यक्ति की जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति (यानी गहरी नींद) की अवस्थाओं में सत्-चित्-आनन्द स्वरूप अपने आप यानी व्यष्टि आत्मा के निरन्तर विद्यमान होने के प्रत्यक्ष अनुभव रूप एकता है।

इसलिए उस सत्-चित्-आनन्द रूप परमात्मा या आत्मा की एकता का चिन्तन करने के लिए "ओं" एक अक्षर का बार-बार स्मरण और उच्चारण करना एक मात्र अवलंबन है। यही "जप यज्ञ" है। भिन्न-भिन्न नामों या भिन्नता के भावों का बोध करनेवाले किसी भी नाम को बार-बार दुहराने से आत्मा का बोध नहीं होता।

पहिला मित्र—इन श्लोकों में "ॐ तत्-सत्"—इन तीन शब्दों का स्मरण करने को कहा है, इसका क्या तात्पर्य है?

मैं—इस अध्याय में समाज की सुव्यवस्था के लिये आहार, यज्ञ, तप और दान रूप से संसार के व्यवहार करने के सात्विक-

राजस और तामस भेदों का वर्णन करके, यह व्यवहार करते समय "ॐ तत्-सत्" वाक्य के स्मरण द्वारा सब की एकता रूप ब्रह्म का चिन्तन करते हुए अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को सबके स्वार्थों में मिला देने का विधान है और इसका खुलासा इन्हीं श्लोकों में कर दिया गया है। "ॐ" अक्षर सारे जगत की एकता का बोधक है, यह तो मैंने अभी बताया ही है। "तत्" शब्द के प्रयोग से फल त्याग यानी लोक संग्रह के व्यवहारों में अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को सबके साथ मिला देने का भाव है और "सत्" शब्द से सब की एकता के उक्त निश्चय युक्त फल त्याग कर कर्म करना ही सत्य है—वही सत्कर्म है। इससे अन्यथा, एकता के भाव में श्रद्धा न रखकर, भिन्नता के भावों से, व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये ही व्यवहार करना असत्य और लोक परलोक दोनों को बिगाड़ने वाला है यह प्रतिपादन किया गया है।

तीसरा मित्र—९ वें अध्याय के २६ वे श्लोक में भगवान ने कहा है कि जो मुझे भक्ति पूर्वक पत्र, पुष्प, फल, जल अर्पण करता है उसको मैं स्वीकार करता हूँ, इससे केवल व्यक्ति उपासना ही नहीं किंतु मर्ति पूजा भी सिद्ध होती है।

मैं—क्या इस श्लोक में मूर्ति का कोई उल्लेख है कि मेरे राम, कृष्ण, विष्णु आदि रूपों की मूर्ति को पुष्पमाला पहनाने या शिवलिङ्ग पर पानी या बेलपत्र चढाने और फल रख देने से मैं उसे ग्रहण करता हूँ ?'

तीसरा मित्र—साफ उल्लेख नहीं है तो क्या हुआ पत्र, पुष्प, फल और जल तो मूर्तियों पर ही चढ़ाये जाते हैं।

मैं—वह श्लोक इस प्रकार है।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥९-२६॥

अर्थ—जो मुझे पत्र, पुष्प, फल और जल यानी सबको सहज ही प्राप्त हो सकनेवाले पदार्थ भक्ति पूर्वक देता है, (उस) शुद्ध अन्तःकरण वाले (भक्त) की भक्ति-सहित समर्पित उस भेंट को मैं खाता हूँ। (९-२६)

इसमें "मे प्रयच्छति" (मुझे देता है) और "अश्नामि" (खाता हूँ), शब्द हैं। यदि इसको व्यक्ति उपासना मानें, तो भगवान् कृष्ण अब हैं नहीं, फिर पत्र, पुष्प, फल और जल किसको दिया जावे और कौन खायगा। यदि किसी मूर्ति पर चढ़ाये जावें तो मूर्ति में न तो लेने की योग्यता होती है, न खाने की। जड़मूर्ति के सामने पदार्थ रख कर या संकल्प छोड़कर फिर उसको अपने उपयोग में ले लेना, क्या यह देना है या मजाक। गीता जैसे बुद्धि-योग से व्यवहार करने की व्यवस्था देनेवाले सत्शास्त्र में, अर्जुन जैसे विचक्षण, चतुर कर्मवीर योद्धा का मोह दूर करने के निमित्त, भगवान् कृष्ण जैसे क्रांतिकारी महापुरुष द्वारा किये जाने वाले युक्ति-युक्त दार्शनिक उपदेश में, क्या बालिकाओं के गुड़ियों के खेल की तरह, जड़मूर्तियों पर पदार्थ चढ़ाने के विधान का समावेश हो सकता है? आप लोग

कुछ विचार तो करें। जब कि गीता में किसी जगह किसी व्यक्ति की उपासना का भी विधान नहीं है तो जड़मूर्तियों की पूजा को तो अवकाश ही कहाँ। १२ वाँ अध्याय जिसका नाम भक्ति-योग रखा गया है, उसमें भी भक्त के लक्षणों में यह कहीं नहीं कहा गया है कि मेरी अमुक प्रकार की मूर्ति की पंचोपचार या षोडशोपचार पूजा करनेवाला भक्त मुझे प्यारा है। फिर इस एक ही श्लोक में मूर्ति-पूजा का विधान कहाँ से आ गया।

तीसरा मित्र—तो इस श्लोक का क्या अर्थ है ?

मैं—भगवान् कृष्ण ने अपना सर्वात्मभाव इसी श्लोक के पहले और पीछे सर्वत्र कहा है। उसको पृष्ठभूमि में रख कर अर्थ करने से साफ हो जाता है कि सब प्राणियों में सब की आत्मा-रूप से परमात्मा व्यापक है, इसलिये चेतन प्राणी की जैसी योग्यता हो उसी के अनुसार यदि प्रेम पूर्वक पत्र, पुष्प, फल और जल द्वारा ही सेवा की जाय तो उसकी अंतरात्मा बड़ी प्रसन्न होती है और यही परमात्मा की सच्ची उपासना है। १५ वें अध्याय के १४ वें श्लोक में भगवान् ने कहा है कि "मैं वैश्वानर अग्नि होकर सब प्राणियों के शरीरों में रहता हुआ चार प्रकार के भोजन को पचाता हूँ।" इसलिये पदार्थ खाने या ग्रहण करने की योग्यता चेतन प्राणियों मे होती है। यहाँ पत्र,-पुष्प, फल और जल ही का उल्लेख करने का यह कारण है कि साधारण लोगों को भी यह पदार्थ सहज ही प्राप्त हो सकते हैं। सेवा करने में पदार्थों का इतना महत्व नहीं होता जितना कि

सेवक के भाव का होता है। इसी के बाद वाले श्लोक में कहा है।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौंतेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ ६-२७॥

अर्थ:—जो तू करता है, जो खाता अथवा भोगता है, जो यज्ञ करता है, जो देता है, (और) जो तप करता है, हे कौंतेय! वह सब मेरे अर्पण कर। इसका यह तात्पर्य है कि मनुष्य जो कुछ करे उसमें परमात्मा की सर्व व्यापकता का ध्यान रखता हुआ सब के स्वार्थों के साथ अपना स्वार्थ मिला दे। इन श्लोकों के पहले २४ वें और २५ वें श्लोकों मे व्यक्ति उपासना की निंदा करते हुए भगवान् कहते हैं कि "यद्यपि मैं ही सब यज्ञों का भोक्ता और स्वामी हूँ परन्तु वे मुझे तत्व से नहीं जानते इसलिये गिरते हैं। देवताओं की उपासना करनेवाले देवताओं को, पितरों की उपासना करनेवाले पितरों को, भौतिक जड़ पदार्थों की पूजा करनेवाले भौतिक जडता को और मेरे भक्त मुझको प्राप्त होते हैं।" इससे स्पष्ट होता है कि भगवान् ने भौतिक जड़ पदार्थों की पूजा करनेवालों को जड़ यानी मूढ, विचार हीन होना बताया है।

दूसरा मित्र—परन्तु १२ वें अध्याय के आरंभ में अर्जुन के पूछने पर भगवान् कृष्ण ने सगुण, साकार उपासना की श्रेष्ठता कही है। इसका मतलब मूर्ति पूजा ही का निकाला जाता है।

में—इससे मूर्ति या व्यक्ति पूजा का मतलब निकल ही नहीं सकता। पहले अर्जुन के प्रश्न की तरफ ध्यान दीजिये। ११ वें अध्याय में भगवान् ने सारे विश्व को अपने में दिखाकर, उस अध्याय के अन्त में —

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ११-५५ ॥

अर्थ—हे पाण्डव! जो मेरे लिये कर्म करता है, अर्थात् सारे जगत में मुझ सर्वात्मा = परमात्मा को व्यापक समझ कर, जो सब के हित के लिये अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार व्यवहार करता है; जो मेरे परायण है अर्थात् जिसने सारे जगत को मेरा ही रूप समझ कर अपने व्यक्तित्व को सबके साथ जोड़ दिया है; जो मेरा भक्त है यानी जो सबसे प्रेम रखता है और जो संगरहित है अर्थात् जो पृथक्ता के भावों मे ममत्व की आसक्ति नहीं रखता; और जो सब भूत प्राणियों से वैर नहीं रखता, अर्थात् सब को परमात्मा के ही अनेक रूप समझ कर किसी से द्वेष नहीं करता—वह मुझे प्राप्त होता है (११-५५)।

इस श्लोक में अपने उस समष्टि भाव यानी सब के लिये, लोक सेवा के कर्म करने और सब के साथ प्रेम करने रूपी भक्ति का विधान किया है। उसी पर १२ वें अध्याय के प्रथम श्लोक मे अर्जुन का प्रश्न है कि:—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमा॥ १२-१ ॥

अर्थः—जो भक्त इस प्रकार सदा युक्त होकर अर्थात् आपके उक्त सर्वरूप में मन लगाकर आपको उपासना करते हैं और जो अक्षर और अव्यक्त भाव की उपासना करते हैं, उन में समत्व-योग के श्रेष्ठ ज्ञाता कौन है ? (१२-१)

इस श्लोक के आरंभ के "एवं", शब्द पर ध्यान देना चाहिये। अर्जुन पूछता है कि आपने जैसा कि इससे पहले के श्लोक में कहा है, उस तरह जगत रूपी आपके व्यक्त स्वरूप की लोक सेवा करने और सब से प्रेम करने रूपी उपासना करने वाले, और सब के अन्दर सत्ता रूप से रहनेवाले आपके अक्षर अव्यक्त भाव की उपासना करनेवाले भक्तों में से कौन-सा उत्तम समत्व योग को जाननेवाला है ? उस पर भगवान् ने उत्तर दिया कि "परा श्रद्धा से जो निरंतर मुझ में मन लगाकर एकता के भाव में जुड़ा रहता है वही सब से उत्तम योगी है; और जो मेरे अक्षर अव्यक्त भाव की उपासना करते हैं, वे भी सर्वत्र सम बुद्धि से सब भूतों के हित में लगे रहनेवाले भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं, परन्तु अव्यक्त भाव की उपासना करने वालों को बहुत क्लेश होता है क्योंकि उसमें मन नहीं लगता।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ १२-२ ॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ १२-३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ १२-४ ॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ १२-५ ॥

अर्थः—जो मुझ (विश्वरूपधारी परमात्मा) मे चित्त लगाकर सदा (सबके साथ प्रेम भाव में) जुड़े हुए, परम श्रद्धा से युक्त हुए मेरी उपासना करते हैं, उन्हें मै समत्व योग के उत्तम साधक मानता हूँ (१२-२)। और जो सब इंद्रियों के समूह का निग्रह करके अविनाशी, वर्णनातीत, सर्वव्यापक, मन की पहुँच के परे, सब के आधार, सदा एक से रहनेवाले, अटल और अव्यक्त अर्थात् इंद्रियों से प्रतीत न होनेवाले निर्गुण भाव की उपासना करते है, वे सर्वत्र समत्व-बुद्धि से सब भूतों के हित में लगे रहने वाले (लोग) मुझको ही प्राप्त होते हैं (१२-३।४)। उन अव्यक्त मे आसक्त चित्तवालों को बहुत क्लेश होता है, क्यों कि देहधारियों के लिये अव्यक्त में गति होना बहुत ही दुःख साध्य है (१२-५)।

इन श्लोकों मे तो निराकार परमात्मा को उपासना से साकार जगत रूपी जगदीश्वर से प्रेम करने की उपासना की विशेषता कही है और दोनों में ही सर्वत्र सम बुद्धि और सब के हित को प्रधानता दी है। यहाँ किसी विशेष व्यक्ति या पदार्थ या मूर्ति आदि की उपासना का जिक्र ही कहाँ है?

पहला मित्र—आपकी इस व्याख्या से तो उपासना काण्ड का रूप ही और का और हो गया।

मैं—मैंने जो कुछ कहा है उसमें आपको मेरी भूल या भ्रम या खींचा-तानी प्रतीत हो तो निसंकोच होकर मुझे बता सकते हो।

पहिला मित्र:—आपकी व्याख्या बिल्कुल ठीक जँचती है पर एक बात का खुलासा और करने की आवश्यकता है।

मैं—पूछिये।

पहला मित्र—जगत की उत्पत्ति के विषय में भगवान ने कई स्थलों पर कहा है कि मैं अपनी प्रकृति से जगत को उत्पन्न और लय करता हूँ, पर आठवें अध्याय के १७ से १६ वें श्लोकों में कहा है कि ब्रह्मा के दिन में सृष्टि उत्पन्न होती है और उसकी रात में प्रलय होती है। यह क्या बात है?

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ ८-१७॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥ ८-१८॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥ ८-१९॥

अर्थः—जो अहोरात्र के ज्ञाता, अर्थात् काल विज्ञान के जाननेवाले पुरुष हैं, वे हजार युग पर्यन्त ब्रह्मा का जो दिन है और हजार युगों की ब्रह्मा की जो रात है उसके रहस्य को जानते हैं (८-१७)। (ब्रह्मा के) दिन के आने पर अव्यक्त

(कारण-प्रकृति) से, सब व्यक्तियाँ प्रकट होती हैं और रात के आने पर उसी अव्यक्त संज्ञावाली (कारण प्रकृति) में, सब का प्रलय हो जाता है। इस तरह, हे पार्थ ! वही सब भूतप्राणियों का समुदाय बार-बार हो होकर रात के आने पर विवशता पूर्वक (नियत रूप से) लय होता है, और दिन होने पर प्रकट होता रहता है। (८-१८।१९)।

मै— ब्रह्मा क्या है, इसका विचार कीजिये। समष्टि चेतन सत्ता अथवा सबकी सम्मिलित चेतनाशक्ति, जिसका भिन्न-भिन्न दार्शनिक और वैज्ञानिक लोग भिन्न-भिन्न नामों से वर्णन करते हैं, उसको वेदान्त दर्शन मे "आत्मा या ब्रह्म" कहा गया है। उस समष्टि चेतन सत्ता की प्रकृति (स्वभाव), स्फुरण शक्ति अथवा इच्छा अथवा संकल्प—कुछ भी नाम दे दीजिए—वही ब्रह्मा है। जब वह प्रकृति, अव्यक्त यानी सुपुप्त—अफुर भाव से फुर कर व्यक्त भाव धारण करती है यानी समष्टि संकल्प फुरता है तब ब्रह्मा का दिन उदय होना कहाता है और तब वह सूक्ष्म और स्थूल जगत रूप से प्रकट होती है। और जब प्रकृति पीछा अव्यक्त भाव धारण कर लेती है यानी समष्टि सङ्कल्प बन्द होता है वह ब्रह्मा की रात कही जाती है, तब जगत पीछा प्रकृति में ही लय हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य की भी सुपुप्ति (गहरी नींद की) अवस्था, सङ्कल्प रहित अव्यक्त भाव है। जब सुपुप्ति अवस्था टूटती है तब मनुष्य सूक्ष्म स्वप्न अवस्था और स्थूल

जाग्रत अवस्था में आता है। वह मनुष्य का दिन होता है और फिर रात के समय पीछी सङ्कल्प रहित अव्यक्त सुषुप्ति अवस्था हो जाती है। इस तरह चक्र चलता रहता है। यह सबका प्रत्यक्ष अनुभव है। जो दशा व्यष्टि रूप से पिण्ड या शरीर की है वही समष्टि रूप से ब्रह्माण्ड या जगत की है। संकल्प फुरने को कल्प का आदि कहते हैं और लय होने को कल्प का अन्त कहते हैं। आजकल भौतिक विज्ञान के पंडित लोग भी जगत को संकल्प (mind) रूप मानते हैं।

पहला मित्र—पर श्लोक १७ मे कहा है कि हजार युगों का ब्रह्मा का दिन होता है और हजार युगों की रात होती है, इसका क्या तात्पर्य है?

मैं—उसी श्लोक मे कह दिया है कि दिन-रात यानी काल गणना के विज्ञान वेत्ता गणितज्ञ ज्योतिषी लोग ब्रह्मा के दिन और रात के परिमाण को जानते हैं। यानी गणित शास्त्र के वेत्ता ज्योतिषियों ने यह निश्चय किया है कि कल्प का आरम्भ और अन्त कितने काल में होता है; इससे विदित होता है कि कल्प की गति की गणना करके ज्योतिषियों ने यह निर्णय किया होगा कि समष्टि संकल्प इतने समय तक सुषुप्त रहता है और इतने समय तक जागता है। व्यष्टि जीवों का समय या काल छोटा होता है और समष्टि शक्तियों का काल बहुत दीर्घ होता है। समष्टि शक्ति या बड़े प्राणियों का थोड़ा काल भी व्यष्टि

जीवों या छोटे प्राणियों को बहुत लम्बा प्रतीत होता है यह प्रत्यक्ष देखने में आता है।

पहला मित्र—तो उस समष्टि चेतन सत्ता में सृष्टि रचने के सङ्कल्प की स्फुर्ना क्यों होती है ?

मैं—सङ्कल्प फुरना और मिटना यह चेतन सत्ता की स्वाभाविक शक्ति है; यदि फुरना न हो तो चेतन सत्ता का अस्तित्व ही सिद्ध न हो। जैसे समुद्र में तरङ्ग उठना और लय होना स्वाभाविक है, वैसे ही चेतन सत्ता में स्फुर्ना स्वाभाविक है। प्रत्येक चेतन प्राणी में हलचल की क्रिया स्वाभाविक है, यह सब को अनुभव है। आप ही अपने दिल मे सोचें कि हममें स्फुर्ना क्यों होती है, तो इसी निश्चय पर पहुँचेंगे कि यह स्वाभाविक है। पर इससे यह नहीं समझना चाहिये कि स्फुर्ना चेतन सत्ता की स्वाभाविक शक्ति होने से, वह स्फुर्ना में बँधा हुआ या इसके आधीन है। चेतन सत्ता पूर्ण स्वाधीन है। वह जब चाहे तब अपनी स्फुरण शक्ति से अपने किसी अंश में ससार के नाना रूप धारण कर लेता है और जब चाहे तब समेट लेता है। वह पूण स्वतन्त्र है। अपनी स्वतन्त्र इच्छा या मर्जी से यह खेल करता और समेटता है। उसको किसी विषय मे वाध्य करनेवाली कोई दूसरी शक्ति नहीं है। यह विषय पृथक् व्यक्ति भाव के दृष्टि कोण से समझ मे आना असम्भव है और परिमित वाणी से पूरी तरह कहा भी नहीं जा सकता। केवल अनुभव गम्य है।

पहला मित्र—ईश्वर और जगत के विषय में तो गीता के सिद्धान्तों का अच्छी तरह सन्तोषजनक खुलासा हो गया। अब गीता में चौतरफी क्रांति का जो विधान आप बताते हैं उसे विस्तार से कहिये।

मैं—आज तो समय बहुत हो गया है, फिर किसी दूसरे दिन के लिए रखिये!

पहला मित्र—कल इसी समय फिर विचार हो।

मैं—अच्छा।

धार्मिक क्रांति

तीसरे दिन फिर सभी उसी समय एकत्र हो गये और पहले मित्र ने प्रसङ्ग छेड़ा।

पहला मित्र—आरंभ कीजिए।

मैं—ईश्वर और जगत् विषयक गीता के सिद्धान्त का वर्णन करते हुए, कल मैंने यह तो आपको बता ही दिया था कि समष्टि चेतन सत्ता के स्फुरण या प्रकृति से जगत के बनाव बनते हैं, यानी वह प्रकृति ही जगत् रूप होती है। वह प्रकृति, सत्व, रज, और तम भेद से तीन गुणोंवाली है। इन तीन गुणों की कमी-बेशी के कारण, जगत्के नाना प्रकार के बनाव निरंतर बदलते रहते हैं। सत्वगुण सूक्ष्म, ज्ञान और सुख रूप है; रजोगुण क्रिया यानी हलचल, राग यानी खिंचाव और दुःख रूप है और तमोगुण स्थूल यानी जड़ता, प्रमाद यानी असावधानी या आलस्य और मोह यानी अज्ञान रूप है। ससार के सभी प्रदार्थों और प्राणी-मात्र में, तीनों गुण सदा सर्वदा बने रहते हैं। तीन गुणों से रहित कुछ भी नहीं है। हाँ, इन गुणों की कमी-बेशी निरन्तर होती रहती है। प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक समाज और प्रत्येक देश में समय समय पर गुणों की घटा-बढ़ी होती रहती है और गुणों की यह घटा बढ़ी ही परिवर्तन यानी फेरफार का कारण है। कभी सत्व-

गुण बढ़कर रजो गुण और तमोगुण दब जाते हैं, कभी रजो-गुण बढ़कर सत्वगुण और तमोगुण दब जाते हैं और कभी तमोगुण बढ़कर सत्वगुण और रजोगुण दब जाते हैं। यद्यपि गुणों की कमी बेशी होती है पर तीनों में से किसी भी गुण का सर्वथा अभाव कभी किसी दशा में नहीं होता। जिस व्यक्ति, जिस समाज, या जिस देश में जब सत्व गुण बढ़ता है तब सूक्ष्म विचार और तत्वज्ञान की विशेषता होती है जिससे सुख शांति होती है। रजोगुण की बढ़ती में क्रियाशीलता, भिन्नता के भावों से लोभ यानी तृष्णा, और राग यानी खींचातानी की उलझन बढ़ती है; और तमोगुण की प्रबलता में मूढ़ता यानी विचारहीनता, स्थूलता यानी जड़ता, असावधानी, आलस्य, नींद और उद्यमहीनता आदि बढ़ते हैं। जिस व्यक्ति, समाज या देश में सत्वगुण की प्रधानता होती है वह ऊँचा चढ़ता है। रजोगुण की प्रधानता होती है तो, सत्वगुण और तमोगुण के बीच की स्थिति में, स्वार्थों की खींचातानी से लड़ाई झगड़े होकर दुःख होता है; और तमोगुण की प्रधानता होती है तो उसकी गिरावट होती है और वह सबसे पिछड़ा हुआ रहता है। इस तरह गुणों की कमी-बेशी के चक्र में चढ़े हुए व्यक्ति, समाज या देश के उत्थान और पतन होते रहते हैं।

पहिला मित्र—जब प्रकृति के गुणों की कमी-बेशी अनिवार्य रूप से होती रहती है, तो उत्थान और पतन यानी उन्नति करना

या गिरना मनुष्य के अधिकार में तो कुछ रहा ही नहीं। फिर उद्यम करना व्यर्थ है।

मैं—मैं पहले कह आया हूँ कि प्रकृति, चेतन आत्मा की स्फुरण शक्ति है, इसलिये चेतन आत्मा उसका स्वामी और पूर्ण स्वतंत्र है। जगत और शरीर प्रकृति के बनाव हैं। इसलिये जो लोग अपने आपको शरीर और जगत के बनावों में ही सीमित मानकर इन्हीं को सब कुछ समझ लेते हैं और इन्हीं में आसक्ति कर लेते हैं—इनके स्वामी आत्मा का अनुभव नहीं करते—वे तो अवश्य ही प्रकृति के गुणों के सर्वथा आधीन रहते हैं और उनके प्रवाह में बहते चले जाते। अपनी उन्नति हैं कुछ भी नहीं कर सकते। परन्तु जो कोई अपने आपको शरीर का स्वामी चेतन आत्मा अनुभव करते हैं और प्रकृति पर शासन करने का प्रयत्न करते हैं, वे इन गुणों के सर्वथा आधीन नहीं रहते किन्तु अपने पुरुषार्थ से सत्वगुण को बढ़ा कर अपनी उन्नति कर सकते हैं। मनुष्य शरीर में चेतना यानी विचार शक्ति का विशेष विकास होने के कारण, उसमे यह विशेष योग्यता होती है कि अपने सच्चे स्वरूप—चेतन आत्म-भाव का अनुभव करके प्रकृति के गुणों को अपने आधीन कर सके। मनुष्य जितना ही अधिक सूक्ष्म विचार करके आत्मज्ञान में अधिक स्थिति करता है, उतना ही वह गुणों पर अधिक अधिकार प्राप्त करता है और जब वह ज्ञान बढ कर पूर्णता को पहुँच जाता है, तब प्रकृति और उसके गुणों पर पूर्णतया विजय

प्राप्त कर लेता है और वह गुणातीत अवस्था कहलाती है। प्रकृति के गुणों की विस्तृत व्याख्या गीता के १४ वें अध्याय में की गई है। इस समय उसका विस्तार करने से समय बहुत अधिक लगेगा, इसके लिये आप लोग "गीता का व्यवहार दर्शन" देख सकते हो।

तीसरा मित्र—तो क्या मनुष्य पुरुषार्थ करने में स्वतंत्र है?

मैं—अपने कार्य क्षेत्र में काम करने में अवश्य ही स्वतंत्र है। तभी तो कर्त्तव्याकर्त्तव्य की विधि-निषेध के विधान या कानून होते हैं, कि अमुक काम करना चाहिये, अमुक नहीं करना चाहिये। यदि स्वतंत्रता न होती तो ये विधान बिल्कुल निरर्थक होते और अपने कामों की जिम्मेवारी किसी पर नहीं रहती। यह सब का प्रत्यक्ष अनुभव है कि मनुष्य जब कोई काम करने को उद्यत होता है तो अपनी स्वतंत्र इच्छा से ही होता है। वह उस काम का कर्ता अपने को मानता है। अपने से भिन्न किसी दूसरे की विवशता से कराया जाना नहीं मानता। आप भी अपनी इच्छा के बिना विवशता पूर्वक काम करने का अनुभव नहीं करते होंगे।

तीसरा मित्र—कार्यक्षेत्र से आपका क्या मतलब है?

मैं—जो अपने अस्तित्व को जितनी हदबन्दी मे परिमित मानता है उतना ही उसका कार्यक्षेत्र होता है। यानी जो अपने व्यक्तित्व को बहुत छोटा या तुच्छ, अपने शरीर तक ही परिमित मानता है, उसका कार्यक्षेत्र शरीर तक ही सीमित रहता है। जो

अपने व्यक्तित्व का विस्तार करके अपने कुटुम्ब से मिला हुआ मानता है, उसका कार्यक्षेत्र कुटुम्ब तक परिमित रहता है। जो अपने व्यक्तित्व को बढ़ाकर किसी विशेष समाज से एकता मानता है, उसका कार्यक्षेत्र उस समाज तक परिमित रहता है। जो अपने व्यक्तित्व को अधिक बढ़ाकर अपने देश के साथ एकता मानता है, उसका कार्यक्षेत्र उस देश तक परिमित होता है; और जो सारे विश्व के साथ अपनी एकता मानता है, उसका कार्यक्षेत्र सारा विश्व हो जाता है और वह पूर्ण स्वतंत्र होता है। ज्यों-ज्यों मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विस्तार करता है उसी के अनुसार उसकी स्वतंत्रता बढ़ती जाती है और सारे ससार को अपना कुटुम्ब माननेवाले को कोई परतंत्रता नहीं रहती।

तीसरा मित्र—आम तौर से तो यही समझा जाना है कि आदमी के किये से कुछ नहीं होता। जो ईश्वर करता या करवाता है सो ही होता है।

मैं—गीता तो ऐसा नहीं मानती। वहाँ तो स्पष्ट कहा है कि करने-करानेवाला अपना आप ही है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ ५-१४ ॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ ५-१५ ॥

अर्थ—प्रभु अर्थात् ईश्वर लोगों के कर्तापन, कर्मों और कर्मों के फल के संयोग की रचना नहीं करता, किन्तु (सबका

अपना-अपना) स्वभाव ही वर्त रहा है (५-१४) सर्व व्यापक आत्मा अथवा परमात्मा न तो किसी के पाप को लेता है न किसी के पुण्य को ही; ज्ञान पर अज्ञान का पर्दा पड़ा हुआ है उसी से जीव मोहित हो रहे हैं, अर्थात् अविचार के कारण लोग अपने वास्तविक स्वरूप—सब की एकता को भूले हुए हैं, उसी से यह भ्रम हो रहा है कि कर्मों आदि की रचना कोई दूसरा करता है (५-१५)।

मैं पहले कह आया हूँ कि ईश्वर जगत से या शरीरों से भिन्न नहीं है, किन्तु सब का आत्मा ही ईश्वर है और उस आत्मा ही की सत्ता और चेतनता से शरीरों द्वारा सब कर्म होते हैं। इस अर्थ में तो "ईश्वर सब कुछ करता कराता है" कहना बन सकता है परन्तु कोई अलग रहता हुआ ईश्वर सब कुछ करता है या मनुष्यों द्वारा विवशता से कर्म करवाता है, यह ठीक नहीं है। इसलिये जो मनुष्य अपने को शरीरों का स्वामी आत्मा मानता है वह तो कर्म करने में अवश्य ही स्वतंत्र है। परन्तु जो अपने को प्रकृति के कार्य—शरीर तक ही परमित मानता है वह अवश्य ही परतंत्र रहता है। जिस तरह पशुओं में बुद्धि का कुछ भी विकास नहीं होता और वे प्रकृति के पूर्णतया आधीन रहते हैं, उसी तरह शरीर में ही आसक्ति रखनेवाले मनुष्य भी एक प्रकार से पशु ही होते हैं। गीता मनुष्य को पूर्णतया परतंत्र बता कर पशु नहीं बनाती और न पुरुषार्थ हीन ही बनाती है किन्तु स्पष्ट शब्दों में कहती है कि:—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ६-५ ॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मनाजितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६-६ ॥

अर्थ—आप ही अपना उद्धार करे अर्थात् मनुष्य आपही अपने को ऊँचा उठावे, अपने को गिरावे नहीं, क्योंकि आप ही अपना (उद्धार करनेवाला) बन्धु है, और आप ही अपना (पतन करने वाला) शत्रु है। जिसने अपने आपको जीत लिया है, यानी जिसका मन और इन्द्रियाँ अपने आधीन हैं, वह स्वयं अपना बन्धु है; और जिसने अपने आपको नहीं जीता यानी देह भाव ही में आसक्त है वह स्वयं अपने साथ शत्रु के समान शत्रुता का बर्ताव करता है (६-५।६)।

दूसरा मित्र—११ वें अध्याय के ३२ से ३४ श्लोकों मे भगवान् ने अर्जुन को कहा है कि "ये भीष्म, द्रोण, कर्ण और जयद्रथ आदि मेरे द्वारा मारे हुए हैं तू केवल निमित्त मात्र बन जा, तेरे बिना भी ये लोग जीवित नहीं बचेगे" आदि। इन वाक्यों से तो मनुष्य की स्वतन्त्रता कुछ भी प्रतीत नहीं होती, करने-कराने वाला तो ईश्वर ही प्रतीत होता है।

मैं - संसार मे समष्टि यानी सब की सम्मिलित शक्ति के विरोध में, व्यष्टि यानी एक व्यक्ति, अपने अलग व्यक्तित्व के अहंकार और अलग व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लिए कुछ भी करना या न करना चाहे, तो उसकी दुर्दशा होती है, पर ससार

का काम उसके बिना अटका नहीं रहता। वह चक्र तो चलता ही रहता है। हाँ, व्यवस्था में कुछ फर्क अवश्य आता है, जिसका अपराधी अपने कर्तव्य को पालन न करनेवाला व्यक्ति होता है। महाभारत की लड़ाई के समय, समष्टि शक्ति-प्रकृति के नियमानुसार उसमें भाग लेनेवाले भीष्म द्रोणादिकों के कर्मों के फल-स्वरूप, उनकी मृत्यु निकट आ पहुँची थी और अर्जुन की यह जिम्मेवारी थी कि उनके साथ लड़कर उनको मारे। परन्तु अर्जुन अपने बडेरों और कुटुम्बियों की हिंसा के महापाप से बचकर, अपना व्यक्तिगत कल्याण प्राप्त करने के लिए अपने कर्त्तव्य कर्म-युद्ध करने से विमुख होना और उनको बचाना चाहता था। इस-लिए भगवान् ने उसको कहा कि मेरी स्फुरण शक्ति—प्रकृति के नियमानुसार ये लोग तो मरे ही पड़े हैं यानी मृत्यु के निकट पहुँच चुके हैं। यदि तू नहीं लड़ेगा तो दूसरे किसी कारण से ये लोग मारे जावेंगे किन्तु तू अपने कर्त्तव्य से विमुख होकर समाज की व्यवस्था बिगाडने का अपराधी होगा। जिस तरह अभी रजाकारों के अत्याचारों के फल स्वरूप, भारत सरकार ने उनको दबाने का निश्चय करके अपने सेना-नायकों के जिम्मे यह काम लगाया था। यदि जनरल राजेन्द्रसिंहजी और जनरल चौधरी आदि अफसर रजाकारों पर दया करके या हिंसा के डर से अपनी जिम्मेवारी पूरी नहीं करते, तो सरकार दूसरे अफसरों द्वारा रजाकारों को तो दबाती ही पर अपने कर्त्तव्य से विमुख होने वाले जनरल, व्यवस्था बिगाड़ने के दोषी होते। व्यष्टि अफसर

यद्यपि अपने जिम्मे के कार्य करने में स्वतंत्र हैं परन्तु समष्टि सरकार के आदेश की अवहेलना करने से वे बागी हो जाते। इसी तरह यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्य-क्षेत्र मे आने वाले कर्म करने में स्वतंत्र है, परन्तु समष्टि शक्ति प्रकृति के नियमों के विरुद्ध आचरण करने से अवश्य ही उसकी दुर्दशा होती है।

दूसरा मित्र—बहुत से लोग कहते हैं कि जो प्रारब्ध में लिखा होता है सो ही होता है, आदमी के किए कुछ भी नहीं होता।

मैं—गीता ऐसा नहीं मानती। उसमें प्रारब्ध, संचित, क्रियमाण और आगामी आदि कर्मों के जो भेद लोग मानते हैं उनका कहीं भी उल्लेख नहीं है। प्रारब्ध भी तो पहले किये हुए अपने कर्मों का ही संचय होता है और जब मनुष्य कर्म करने में स्वतत्र है, तो अपने किये हुए कर्मों को आप मिटाने या बदलने में भी स्वतन्त्र है, यदि, जैसा कि मैंने पहले कहा है, वह अपनी स्वतन्त्रता का अनुभव करे। हाँ, गीता के १८ वे अध्याय के १४ वें श्लोक मे कर्मों की सिद्धि या सफलता के पाँच कारणों में से एक अंतिम कारण "दैव" को भी माना है। वह "दैव" मनुष्य के पूर्वकर्मों का प्रभाव और दैवी शक्तियाँ है, जिनको अदृष्ट भी कहते हैं, यानी जिनका मनुष्य को प्रत्यक्ष रूप में अनुभव नहीं होता। कर्मों की सिद्धि में यह पाँचवाँ सूक्ष्म कारण माना है। वर्तमान क्षण से पहले जितने कर्म मनुष्य करता है, वे सब पूर्व कर्म होते हैं

और उनका प्रभाव हमारे वर्तमान और भविष्य में किये जाने-वाले कर्मों पर पड़ता है। हमारे पहले किए हुए कई पुरुषार्थ हमारे वर्तमान कर्मों की सफलता के साधक होते हैं और कई बाधक होते हैं, परन्तु हमको उनकी पूर्णतया स्मृति या ज्ञान नहीं होता इसलिए उनको गीता में दैव या अदृष्ट कहा है। परन्तु वे मनुष्य को कर्म करने में सर्वथा परतंत्र नहीं करते।

पहला मित्र—गीता का मत है कि सत्वगुण बढ़ाने से मनुष्य अपनी उन्नति या उद्धार कर सकता है, तो सत्वगुण को बढ़ाने के साधन क्या हैं।

मैं—गीता के १७ वें और १८ वें अध्यायों में मनुष्य के व्यवहारों यानी खान-पान, यज्ञ, तप, दान, त्याग, ज्ञान, कर्म कर्ता, बुद्धि, धृति और सुख के सात्विक, राजस और तामस भेदों की विस्तार से व्याख्या की है। उसको आप लोग "गीता का व्यवहार दर्शन" में देखें। उसके अनुसार सात्विक व्यवहार करने और राजस, तामस व्यवहारों से बचने से मनुष्य अपने में सात्विकता बढ़ा सकता है। परन्तु सत्वगुण बढ़ाने का यह तात्पर्य नहीं है कि रजोगुण तमोगुण का सर्वथा अभाव हो जावे क्योंकि अभाव किसी भी गुण का नहीं हो सकता। रजोगुण बिना कोई चेष्टा, क्रिया या हल-चल नहीं हो सकती और तमोगुण बिना स्थूल शरीर नहीं रह सकता जिससे सब पुरुषार्थ होते हैं। सत्वगुण बढ़ाने का यही तात्पर्य है कि सत्वगुण की प्रबलता

हो। वह रजोगुण, तमोगुण पर शासन करे और ज्ञान विचार से व्यवहार करावे।

दूसरा मित्र—जब मनुष्य अपने पुरुषार्थ से अपने मे सत्व-गुण बढ़ा कर अपनी उन्नति कर सकता है, ज्ञान बढ़ा सकता है और सुखी हो सकता है तो लोग उसके लिए उद्यम क्यों नहीं करते। मूढ़ता और दुख ही में क्यों पड़े रहते हैं?

मैं—असल में बात यह है कि संसार में अधिकतर लोग तमोगुण की मूढावस्था या आलस्य प्रमाद में ही पड़े रहना पसंद करते हैं। यही उनको अच्छा लगता है और इसी में वे मस्त रहते हैं। इसको छोडना नहीं चाहते; जिस तरह नशे के व्यसनी लोग दुख पाकर भी नशे में रहना पसन्द करते हैं। मै पहले कह आया हूँ कि आत्मा पूर्ण स्वतन्त्र है। जैसी इच्छा करता है वैसा ही बनाव कर लेता है। इसलिए मनुष्य जैसा चाहता है वैसा ही आप बन जाता है। गीता में कहा है कि—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
ममवर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ ४-११॥

अर्थ—जो मुझ (सर्वव्यापक आत्मा) को जिस तरह का मानकर बर्ताव करते हैं मैं उनके साथ उसी तरह बर्तता हूँ। हे पार्थ! मनुष्य सब प्रकार से मेरे अर्थात् सबके अपने आप सर्व व्यापक आत्मा ही के मार्ग का अनुसरण करते हैं। मनुष्य अपने भाग्य का आपही विधाता है। जब कि समष्टिसृष्टि, समष्टिचेतन की स्वतन्त्र इच्छा का बनाव है तो प्रत्येक व्यक्ति की व्यष्टि

सृष्टि का बनाव भी उसकी स्वतंत्र इच्छा के अनुसार ही होता है। जिस तरह का बनाव उसे अच्छा लगता है वैसा ही वह अपने लिए कर लेता है। जैसी मति होती है वैसी ही गति होती है।

दूसरा मित्र—पर यह तो कोई भी अनुभव नहीं करता कि अपने लिए रजोगुणी या तमोगुणी बनाव मैंने ही अपनी स्वतंत्र इच्छा से बनाये हैं। जब दुखी होता है तब अपनी विवशता का अनुभव करता है और उसका जिम्मेदार ईश्वर को ठहराता है।

मैं—तमोगुण मे उलझकर अपने यथार्थ स्वरूप का अनुभव न करने के कारण मनुष्य अपनी करनी की पूरी जिम्मेदारी आप नही मानता। जब तक सुख या अनुकूलता रहती है तब तक तो अपनी करनी का फल ही मानता है परन्तु जब दुख या प्रतिकूलता होती है तब उसके लिए दूसरों को जिम्मेदार ठहराता है; और जब प्रत्यक्ष मे दूसरा कोई जिम्मेदार नहीं दीखता, तब अदृष्ट ईश्वर को मानकर उसके सिर सारा दोष थोप देता है। यही तो तमोगुण का प्रभाव है। अयथार्थ या विपरीत ज्ञान ही तमोगुण है और लोगों को इसी में रहना अच्छा लगता है, इस लिये सत्वगुण बढ़ाने का प्रयत्न नहीं करते। संसार के अधिकतर लोगों में तमोगुण की प्रधानता है।

पहला मित्र—जब कि सब लोग एक ही समष्टि चेतन आत्मा के अनेक रूप हैं तो वह समष्टि आत्मा अपनी प्रकृति में

रजोगुण और तमोगुण उत्पन्न करके आप ही उनमें क्यों उलझता है और क्यों दुख पाता है।

मैं—भिन्न-भिन्न विरोधी भावों के बिना जगत का बनाव ही नही बन सकता। जब कोई अभिनय या खेल किया जाता है, तब अच्छे और बुरे सभी तरह के स्वांग होते हैं; तभी वह खेल सांगोपाङ्ग बनता है। श्रेष्ठ की प्रतियोगिता मे दुष्ट का होना खेल के लिए आवश्यक होता है। इसी तरह सत्वगुण के साथ रजोगुण और तमोगुण का होना जगत के बनाव के लिए आवश्यक होता है।

पहला मित्र—खेल मे तो स्वांग करनेवालों को दुख-सुख केवल दिखावे के होते हैं। वास्तव मे किसी को कोई दुख-सुख नहीं होते, परन्तु जगत के बनाव में प्रत्यक्ष ही दुख-सुख होते है।

मैं—ससार के खेल मे नाना प्रकार के शरीरों का स्वाग करनेवाले चेतन आत्मा को वास्तव मे दुख सुख नहीं होते। दुख-सुख उसके शरीर रूपी स्वाग को होते हैं, जो शरीर और दुख-सुख आदि भी वास्तव मे नाटक के स्वांगों की तरह अनित्य, निरतर बदलते रहनेवाले दिखाव ही हैं। आत्मा ज्यों का त्यों बना रहनेवाला है। उसमे न कोई सुख है न दुख। यदि आत्मा में वास्तव में कोई सुख दुख की वेदना होती, तो वह सुषुप्ति यानी गहरी नींद की अवस्था मे भी बनी रहती। क्योंकि यद्यपि उस अवस्था में देह, इन्द्रियाँ और मन, बुद्धि आदि की क्रियायें तो

बन्द रहती हैं, पर आत्मा ज्यों का त्यों रहता है; फिर भी सुषुप्ति अवस्था में कोई वेदना नहीं होती, यह सब का प्रत्यक्ष अनुभव है। इससे यह स्पष्ट है कि सुख दुख आदि की वेदनाये अंत:करण के संयोग से अनित्य शरीर को ही होती है, आत्मा को नहीं। समष्टि चेतन सत्ता या आत्मा के किसी अंश में अनन्त विश्व या ब्रह्माण्डों का बनाव है। वर्तमान समय में पश्चिमी ज्योतिषियों ने वृहदाकार दूरबीनों से ब्रह्माण्डों की अनन्तता का प्रत्यक्ष अनुभव किया है। उन अनंत ब्रह्मांडों में से किसी एक के किसी अणु में यह अपनी पृथ्वी है। इसके किसी भाग मे किसी समय सत्व-गुण की प्रधानता होती है, किसी में रजोगुण और किसी मे तमो-गुण की। अन्य ब्रह्माण्डों के भी कई भाग सत्वप्रधान, कई रज प्रधान, और कई तम प्रधान होंगे। सब परस्पर विरोधी भावों की समष्टि आत्मा में एकता होने से, दोनों मिटकर वास्तव में न कोई दुख रहता है न सुख किन्तु सब का योग मिलकर समता ही रहती है। जिन लोगों को यह सर्वात्म भाव का निश्चित और दृढ़ ज्ञान हो जाता है वे समत्व-योगी स्थित-प्रज्ञ लोग इन सुख दुख आदि द्वंद्वों से विचलित नहीं होते किन्तु उनकी बुद्धि का सन्तुलन बना रहता है। वे अनुकूलता में अति हर्षित नहीं होते और प्रतिकूलता में घबड़ाते भी नहीं। परन्तु अज्ञानी लोग अनुकलता के सुखों मे अति हर्षित होकर खुशियाँ मनाते हुये फूले नहीं समाते, और प्रतिकूलता के दुखों में रोते चिल्लाते हैं। यह सब की एकता के साम्यभाव का अनुभव बहुत प्राचीन

काल में इस देश में हमारे पूर्वजों को हुआ था और इसी सर्वात्म भाव के अनुभव के आधार पर संसार के व्यवहार, समाज की सुव्यवस्था और शान्ति के लिये करने का विधान उन्होंने बनाया था जिसको वे "योग" कहते थे और उस युग में उसके अनुसार लोगों के व्यवहार समता के भाव से होते भी थे जिससे सब लोग उन्नत और सुखी रहते थे। देखिये:—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वानमनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥४-१॥

एवं परंपरा प्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥४-२॥

स एवायं मया तेऽद्य योग प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥४-३॥

अर्थ—यह अविनाशी समत्व-योग मैंने विवस्वान—सूर्य से कहा, सूर्य ने मनु से और मनु ने इक्ष्वाकु से कहा (४-१) इस तरह उत्तराधिकार की परम्परा से प्राप्त, इस समत्वयोग को राज-र्षियों ने जाना। हे परन्तप! वह समत्व-योग दीर्घ काल पाकर यहाँ (इस समाज) से नष्ट (लुप्त प्राय) हो गया था (४-२)। यह वही प्राचीन समत्व-योग है, जो अब मैंने तुझे बतलाया है, क्योंकि तू मेरा भक्त और सखा (मित्र) है; यह (समत्व-योग) अत्यन्त ही उत्तम रहस्य अर्थात् तत्त्वज्ञान का मर्म है (४-३)।

पहिला मित्र—योग तो नेती-धोती, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान आदि से समाधि लगाने को कहते हैं, या गृहस्थी छोड़कर फकीरी लेने को कहते हैं। आप इसका उल्टा अर्थ "समता के भाव से सांसारिक व्यवहार करने" का कहां से निकाल लाये ?

मैं—यह अर्थ मैंने अपने मन से नहीं निकाला है, किन्तु गीता में ही प्रायः सर्वत्र इसका यही अर्थ कहा गया है। गीता में सबसे पहले "योग" शब्द, दूसरे अध्याय के ३६ वें श्लोक में आया है। उस अध्याय में भगवान् ने ११ वें श्लोक से ३० वें श्लोक तक, पहले अर्जुन को आत्मज्ञान का उपदेश देकर फिर उसको अपने स्वाभाविक क्षात्र धर्मानुसार अपने कर्त्तव्य कर्म-युद्ध करने को कह कर, ३६ वें श्लोक में कहते हैं।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥२-३९॥

अर्थ—यह (उपरोक्त) बुद्धि तुझे सांख्य के विषय में कही गई; अब योग के विषय में इस बुद्धि को सुन। हे पार्थ। इस बुद्धि से युक्त होकर तू (कर्म करता हुआ भी) कर्मों के बंधन से मुक्त रहेगा।

यह भूमिका बांधकर आगे साम्यभाव से अपने कर्म करने का विधान करते हुए "योग" शब्द का अर्थसन्दिग्ध "समत्वं योग उच्यते" करते हैं।

योगस्थः कुरुकर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योगउच्यते ॥२-४८॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौशरणमन्विच्छ कृपणाः फल हेतवः ॥ २-४९॥

बुद्धि युक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥२-५०॥

अर्थ—हे धनंजय ! योग में स्थित होकर तथा सङ्ग छोड़कर एवं सिद्धि और असिद्धि में सम होकर कर्म कर; "समत्व" ही योग कहा जाता है (२-४८) । हे धनञ्जय ! कर्म दूर होने के कारण बुद्धियोग की अपेक्षा निकृष्ट है । अतः तू बुद्धि-योग का आश्रय ले अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य साम्य भाव की बुद्धि से कर्म कर; फल की इच्छा से कर्म करनेवाले कृपण अर्थात् दीन होते हैं (२-४९) । जिसकी समत्व बुद्धि होती है, वह इस लोक में पाप और पुण्य दोनों से अलग अर्थात अलिप्त रहता है, इस कारण तू (सर्वभूतात्मैक्य—साम्य-भाव रूप) योग में स्थित होकर व्यवहार कर, क्योंकि योग ही कर्मों में कुशलता है यानी कर्म-कौशल है (२-५०) । फिर आगे तीसरे अध्याय के तीसरे श्लोक में भी "कर्म-योगेन योगिनाम्" कहकर योगियों की निष्ठा कर्म-योग की बताई है, जो कि हठयोग की समाधि और गृहस्थ छोड़ने की फकीरी से बिल्कुल ही विपरीत है । तीसरे अध्याय में सब की एकता के साम्यभाव से अपने कर्त्तव्य कर्म, व्यक्तिगत

स्वार्थों की आसक्ति छोड़कर करने की विस्तृत व्यवस्था देकर फिर चौथे अध्याय के आरम्भ में, 'इमं योगं' यानी 'यह योग' कहा है, जिससे दूसरे और तीसरे अध्याय में वर्णित समत्वयोग के सिवा दूसरा कोई अर्थ निकल ही नहीं सकता। आगे पाँचवें अध्याय के पहले श्लोक में अर्जुन ने पूछा है कि

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥५-१॥

अर्थ—हे कृष्ण ! आप कर्मों के सन्यास की और फिर "योग" की प्रशंसा करते हो, इन दोनों में से जो एक वास्तव में श्रेयस्कर हो, वही मुझे अच्छी तरह निश्चय करके बतलाइये ॥५-१॥

इसमें कर्म सन्यास के मुकाबिले में "योग" शब्द आया है। उसके उत्तर में भगवान ने आगे के ११ श्लोकों में कर्म संन्यास की अपेक्षा कर्म-योग की विशेषता कही है। वहाँ भी "योग" शब्द का अर्थ "सर्वभूतात्मैक्य ज्ञान पूर्वक साम्य भाव से सांसारिक व्यवहार करने" का ही लिया है। इन श्लोकों का खुलासा आप लोग "गीता का व्यवहार दर्शन" में देख सकते हैं।

दूसरा मित्र—छठे अध्याय में तो आसन, प्राणायाम आदि योगाभ्यास करने को ही "योग" कहा है न?

मैं—सबकी एकता के साम्यभाव में मन को स्थित करने के लिये किसी न किसी साधन की आवश्यकता होती है। उन साधनों में से सब बखेड़ों से रहित, एकांत स्थान में बैठकर ध्यान का अभ्यास भी एक साधन छठे अध्याय में संक्षेप से कहा

है और उस साधन को योग कहा है। परन्तु वहाँ शरीर को कष्ट देनेवाली नेती, धोती, आसन, प्राणायाम आदि हठयोग की क्रियाओं का कोई विधान नहीं है, न कोई समाधि का ही जिक्र है, बल्कि शरीर की आवश्यकताओं के नियमित व्यवहार यथायोग्य करते रहने का विधान है।

नात्यश्नतस्तु योगोस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतोनैव चार्जुन ॥६-१६॥

युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥६-१७॥

अर्थ—परन्तु हे अर्जुन ! बहुत अधिक खानेवाले या बिल्कुल न खानेवाले, बहुत सोनेवाले या बहुत जागनेवाले का योग सिद्ध नहीं होता। यथायोग्य नियमित आहार-विहार करनेवाले, तथा यथायोग्य नियमित कर्माचरण करनेवाले और यथायोग्य नियमित रूप से सोने तथा जागनेवाले का योग दुःखनाशक होता है। (६-१६,१७)

और मन को एकाग्र करने के इस साधन का वर्णन करने के पहले भगवान् ने इसी अध्याय के आरम्भ में यह स्पष्ट कर दिया है कि कोई अपना घर-बार या कर्त्तव्य कर्म छोड़कर सदा इसी साधन में न लगा रहे।

अनाश्रितं कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥६-१॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पांडव।
नह्यसंन्यस्त संकल्पो योगी भवति कश्चन ॥६-२॥

अर्थ—कर्म के फल के आश्रय के बिना, जो मनुष्य अपने कर्त्तव्य कर्म करता है, वही संन्यासी है और वही योगी है ; न तो निरग्नि अर्थात् गृहस्थाश्रम को त्यागनेवाला और न अक्रिय अर्थात् कर्मों से रहित होनेवाला ही। जिसको संन्यास कहते हैं उसी को हे पांडव ! योग अर्थात् समत्व योग जान क्योंकि मानसिक संकल्पों के संन्यास बिना कोई भी योगी अर्थात् समत्व योगी नहीं हो सकता ।

और इस साधन का वर्णन करके अन्त में इसका यह परिणाम कहा है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥६-२९॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥६-३०॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥६-३१॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥६-३२॥

अर्थ—जिसका अंतःकरण सब की एकता के साम्य-भाव से युक्त हो गया है, वह सर्वत्र समदर्शी अर्थात् सब की समता का अनुभव करनेवाला समत्वयोगी, अपने को सब भूतप्राणियों में

और सब भूत प्राणियों को अपने में देखता है (६-२६)। जो मुझ (परमात्मा) को सब में देखता है और सबको मुझ मे देखता है, उससे मैं अलग नहीं होता और न वह मुझसे अलग होता है। (६-३०) जो (सबके) एकत्व भाव में अच्छी तरह स्थित हो कर, सब भूतों में रहनेवाले मुझ को भजता है, वह समत्वयोगी सब प्रकार से वर्तता हुआ भी मुझ (सबके आत्मा = परमात्मा) में ही वर्तता है (६-३१)। हे अर्जुन ! जो आत्मौपम्य-बुद्धि से, यानी सबको अपना आत्मा समझकर, सर्वत्र, यानी सबके, सुख अथवा दुःख को समान-भाव से देखता है, अर्थात दूसरों के सुख दुख को अपने समान ही अनुभव करता है, वह परम योगी माना गया है (६-३२)।

अर्जुन भी "योग" के इस वर्णन को साम्यभाव की स्थिति ही मानता है।

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥ ६-३३॥

अर्थ—हे मधुसूदन ! आपने जो यह साम्यभाव का योग कहा, (मनकी) चंचलता के कारण मैं इसकी दृढ स्थिति नहीं देखता।

योग शब्द का साधारण अर्थ है, जोड़, मेल, मिलान, एकता, एकत्व भाव की स्थिति इत्यादि। सबका जोड़, मेल या एकता आत्मा या परमात्मा या ब्रह्म में ही होती है। और आत्मा सम है।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ ५-१६॥

अर्थ—जिनका मन समता के भाव में स्थित हो जाता है, वे संसार को यहीं (इसी शरीर में) जीत लेते हैं; और क्योंकि ब्रह्म ही निर्दोष एवं सम है इसलिए वे ब्रह्म में स्थित रहते हैं।

इससे स्पष्ट है कि गीता में भगवान् ने सब की एकता के साम्य भाव की स्थिति को 'योग' कहा है और उस साम्य भाव की स्थिति में अपने-अपने स्वाभाविक कर्त्तव्यकर्म, सब के हित के लिए करने में लगे रहने को भी "योग" ही कहा है। क्या अब भी आपको "योग" शब्द के विषय में कोई शंका रही है?

दूसरा मित्र—कुछ भी नहीं। पर चौथे अध्याय के प्रथम श्लोक में कहा है कि यह समत्व-योग मैंने सूर्य को कहा और सूर्य ने मनु को कहा; सो क्या सूर्य कोई मनुष्य है जिसको कृष्ण ने कहा और फिर सूर्य ने मनु को कहा।

मैं—यह कविता की अलंकारिक भाषा में रूपक बाँधा गया है। इस कथन का भावार्थ यह है कि सब का आत्मा=परमात्मा ही अपनी इच्छा शक्ति से जगत रूप धारण करता है और जगत की सुव्यवस्था के लिए सूर्य रूप से प्रकाशित होता हुआ उसमें समत्व-योग का प्रत्यक्ष आदर्श भरकर, उसके द्वारा लोगों को साम्य भाव का आचरण करने की निरंतर शिक्षा देता रहता

है। सूर्य सारे जगत को समान भाव से प्रकाश, उष्णता और गति देता है और सदा अपने केन्द्र पर स्थित रहता हुआ नियमित रूप से अपने स्वाभाविक धर्म का निरंतर आचरण करता रहता है, यानी प्रकाश और उष्णता फेंकता रहता है और अपना प्रकाश सब में डालता हुआ भी वह अलिप्त यानी रागद्वेष, पक्षपात आदि से मुक्त रहता है। इसलिए समत्व-योग के आचरण का आदर्श सबको, किसी भेद-भाव के बिना, दिखाता रहता है। सूर्य के आदर्श से समाज के आदि व्यवस्थापक राजा मनु ने यह समत्वयोग ग्रहण किया।

दूसरा मित्र—वहाँ पहले श्लोक में इस समत्व-योग को "अव्यय" कहा है और दूसरे श्लोक में "काल पाकर वह नष्ट हो गया" कह दिया सो, अविनाशी होकर नष्ट कैसे हो गया। इसमें परस्पर विरोध प्रतीत होता है।

मैं—नष्ट होने का तात्पर्य, सर्वथा मिट जाने का नहीं है क्योंकि जब सूर्य उस समत्वयोग का प्रत्यक्ष आदर्श है तब वह सर्वथा मिट कैसे सकता है? किन्तु तीन गुणों की कमी-वेशी होने के चक्कर में, जब पृथ्वी के किसी भाग के लोगों में सत्वगुण दबकर तमोगुण अधिक हो जाता है, तब वे इस समत्व योग को छोड देते हैं और उस समय उनमें वह लुप्त हो जाता है। हिन्दू या आर्य-काल-गणना के अनुसार, द्वापर युग में यहाँ के लोगों ने सत्वगुण की उपेक्षा कर दी थी। जिससे तमोगुण बहुत बढ़ जाने से समता का भाव लुप्त होकर विषमता के व्यवहार बहुत उग्र

हो गये और जनता अत्यन्त दुखी हो गई, जैसे कि इस समय हो रही है। जब जनता के कष्ट इतने बढ़ जाते हैं कि वे असह्य हो जाते हैं, तब सबकी सम्मिलित व्याकुलता की प्रतिक्रिया (reaction) होकर उन्हीं में से कोई विशेष व्यक्ति ऐसा प्रकट होता है, जिसको सबकी एकता का पूर्णतया अनुभव हो और जिसमें सबका सामूहिक हित करने की योग्यता हो। वह, समाज में क्रांति करके, बढ़ी हुई तामसी प्रकृति के दुष्ट लोगों का दमन करता है और विषमता रूपी अधर्म को मिटाकर समता रूपी धर्म की स्थापना करता है। ऐसे क्रांतिकारी महापुरुषों को ही लोग ईश्वर के अवतार या ईश्वर के दूत आदि नामों से पुकारते और पूजते हैं। भगवान् कृष्ण उस समय वही क्रांतिकारी महापुरुष प्रकट हुए थे। अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में वे स्वयं ही इस रहस्य को बताते हैं।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥ ४-५ ॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ४-६ ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ४ ७ ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ४-८ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत से जन्म बीत चुके हैं, उन सबको मैं जानता हूँ, परन्तु हे परन्तप, तू नहीं जानता (४-५)।

मैं सबका आत्मा, जन्म से रहित, निर्विकार और सब भूत प्राणियों का ईश्वर होता हुआ भी, अपनी प्रकृति में अधि-ष्ठित होकर अपनी योगमाया से विशेष रूपों में प्रकट होता हूँ (४-६)।

हे भारत। जब-जब धर्म की ग्लानि होकर अधर्म बढ जाता है अर्थात् लोग अपने स्वाभाविक कर्त्तव्य कर्मों से विमुख होकर विषमता के आचरणों से समाज की व्यवस्था बिगाड़ने लगते हैं तब तब मैं अपने विशेष रूपों को रचता हूँ अर्थात् विभूति सम्पन्न रूप धारण किया करता हूँ। भले आदमियों की रक्षा और दुष्टों के नाश तथा (समता रूपी) धर्म की (पुनः) अच्छी तरह स्थापना करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट हुआ करता हूँ (४-७।८)।

पहिला मित्र—सातवें श्लोक में धर्म की ग्लानि को, अपने स्वाभाविक कर्तव्य कर्म से विमुख होने का तात्पर्य आपने कैसे निकाला। आम तौर से तो सनातन वैदिक या स्मृति-पुराणोक्त धर्म से लोगों की श्रद्धा हट जाने और उस साम्प्रदायिक धर्म के विरुद्ध आचरण करने को धर्म की ग्लानि होना माना जाता है।

मैं—साम्प्रदायिक लोग खींचातानी करके पूर्वापर की संगति के विरुद्ध इस तरह का अर्थ करते हैं। मैंने आपको परसों

बता दिया था कि गीता में साम्प्रदायिकता या मजहबों का विधान कहीं भी नहीं है। यहाँ तो प्रत्येक व्यक्ति या पदार्थ के स्वाभाविक धर्म, और उस स्वाभाविक धर्म के अनुसार अपनी-अपनी योग्यता के कर्त्तव्य कर्म करने को ही धर्म माना है और अपनी स्वाभाविक योग्यता के कर्तव्य कर्म न करके समाज में विषमता और अव्यवस्था उत्पन्न करने को अधर्म माना है। जब लोगों में तमो गुण बढ़ जाता है तब बुद्धि का विपर्यास हो जाता है। जिससे लोग धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म मानने लग जाते हैं; जिसका जो स्वाभाविक धर्म होता है उसके अनुसार अपने कर्त्तव्य कर्मों की अवहेलना करते हैं और साम्प्रदायिक मजहबों को धर्म मानते हैं। वास्तव में यही धर्म की ग्लानि है और इसी से लोगों में अव्यवस्था जन्य घोर क्लेश उत्पन्न होते हैं। महाभारत युद्ध छिड़ने के समय अर्जुन को भी तमोगुण ने दबा लिया था और अपने कुटुम्ब के प्रेम रूपी मोह के वश होकर करुणा से अपने कर्तव्य कर्म यानी युद्ध करने से विमुख होकर, भिक्षा वृत्ति पर जीवन निर्वाह करने को तैयार हुआ था।

पहला मित्र - प्रेम और करुणा तो सात्विक भाव है। इनको आप तमोगुण और मोह कैसे कहते हो?

मैं—मैं अपनी तरफ से नहीं कहता। भगवान् ने ही इनको दूसरे अध्याय के दूसरे और तीसरे श्लोक में और अठारहवें अध्याय के बहत्तरवें श्लोक में मोह कहा है और स्वयम् अर्जुन ने दूसरे अध्याय के सातवें और अठारहवें अध्याय के तिहत्तरवें

श्लोक में यह स्वीकार किया है। यद्यपि साधारणतया प्रेम और करुणा सात्विक भाव होते है पर जब इनमें व्यक्तित्व की आसक्ति हो जाती है यानी प्रेम और करुणा, विशेप व्यक्तियों तक ही परिमित हो जाते हैं तब वे मोह और निर्दयता का रूप धारण कर लेते हैं; क्योंकि विशेष व्यक्तियों में राग होने से उसकी प्रतिक्रिया होकर दूसरों से द्वेष उत्पन्न होता है; और विशेप व्यक्तियों पर करुणा होने से दूसरों पर निर्दयता होने लगती है। मनुष्य जब तमोगुण के वश होकर मोह में फँस जाता है तब उसकी बुद्धि का विपर्यास हो जाता है और कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का यथार्थ निर्णय नहीं कर सकता। अर्जुन की यही दशा हुई थी। वह अपने स्वाभाविक धर्म को भूल गया था और ऊपर से लगाये हुए जाति धर्मों तथा कुल-धर्मों के नाश होने, स्त्रियों के बिगड़ने, वर्णसकर पैदा होने, पिण्डोदक क्रिया लुप्त होने और पाप लगने से नर्क में पड़न के, शास्त्रों मे सुने हुए भय से भयभीत हो गया था और शस्त्र छोड़ कर शत्रु से विना लड़े, अहिंसात्मक सत्याग्रह करके मरने को तैयार हो गया था। इसका खुलासा आपलोग "गीता का व्यवहार दर्शन" प्रथम अध्याय के श्लोक २० से ४६ तक देखे।

तीसरा मित्र—बेचारे अर्जुन ने किया तो ठीक ही था

मैं—पर भगवान् कृष्ण ने उसको ठीक नहीं समझा किन्तु उसकी बिल्कुल ही मूर्खता समझकर बहुत कठोर शब्दों में फटकारा।

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२-२॥
क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्र हृदय दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥२-३॥

अर्थ—हे अर्जुन इस विकट स्थिति में तुझे, आर्य लोगों के अयोग्य, सुख और यश का विरोधी यह मोह कहाँ से आ गया ? हे पार्थ ! तू नपुसक मत हो, यह तेरे योग्य नहीं है। हे शत्रुओं के संहारक ! हृदय की इस तुच्छ दुर्बलता को दूर करके खड़ा हो (२-२,३)।

इससे स्पष्ट है कि अर्जुन ने अज्ञानवश जिन प्रेम, करुणा और अहिंसा को धर्म माना था उसे भगवान् कृष्ण ने, श्रेष्ठ पुरुषों के अयोग्य मोह, कायरता और तुच्छ हृदय की दुर्बलता बताया और उस परिस्थिति में निर्ममता, निर्दयता और हिंसा, जिनको वह अधर्म मानता था, उन्हें कृष्ण ने धर्म बताकर उनका आचरण करने के लिये उठ खड़ा होने की आज्ञा दी। यद्यपि भेद-भाव के शास्त्रों और साधारण नैतिकता की स्थूल दृष्टि से यह बिल्कुल ही विरुद्धाचरण या पाप प्रतीत होता है परन्तु सब की एकता के आत्मज्ञान की सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर इसका रहस्य समझ में आ जाता है। जिस प्रेम, दया और अहिंसा आदि नैतिकता के आचरणों से सबकी एकता भंग करने और समाज में अव्यवस्था उत्पन्न करनेवाले दुष्टों, अत्याचारियों को प्रोत्साहन मिलता हो वह ऊपरी दिखाव में दैवी सम्पद के श्रेष्ठ आचार यह

धर्म प्रतीत होने पर भी वास्तव में निर्दयता और हिंसा आदि आसुरी-सम्पद के पापाचार होते हैं; और जिन निर्ममता, निर्दयता और हिंसा आदि आसुरी पापाचार माने-जाने वाले आचरणों से समाज में एकता और सुव्यवस्था स्थापन होती हो वे वास्तव मे प्रेम, करुणा और अहिंसा आदि दैवी-सम्पद के श्रेष्ठाचार या धर्म होते है। आचरणों की अच्छाई या बुराई का यथार्थ निर्णय केवल उनके बाहरी स्थूल रूपों से नहीं हो सकता। किन्तु करने वाले के भाव और उनके परिणाम के सूक्ष्म विचार से होता है। जिन आचरणों से सबका वास्तविक हित यानी लोक संग्रह होता हो, वे ऊपरी दृष्टि से बुरे प्रतीत होने पर भी यथार्थ मे उत्तम होते हैं और जिन आचरणों से लोगों का अहित होता हो वे वास्तव में बहुत बुरे होते हैं। आचरणों की सच्ची कसौटी लोक-संग्रह यानी समष्टि हित ही है।

यदि प्रेम, दया और अहिंसा आदि सब परिस्थितियों में धर्म ही होते, और निर्ममता, निर्दयता और हिंसा आदि सब परस्थि-तियों मे अधर्म ही होते, तो वीरपूजा यानी वीर पुरुषों का आदर सत्कार नहीं होता और न उनकी महिमा ही होती क्योंकि वीर वही होता है जो मारने या हत्या करने मे निपुण होता है और ऐसा करने मे अपनी मृत्यु से भी नही डरता। जो जितनी अधिक हत्या करता है उतना ही अधिक वह वीर शिरोमणि कहलाता है और उतना ही अधिक उसका आदर होता है। संसार मे प्राचीन काल से लेकर अब तक वीर-पूजा सर्वत्र होती है और ऐसा करने

के विरुद्ध कोई आवाज नहीं उठाई जाती। इसी से स्पष्ट है कि वास्तव में धर्म या नीति माने जानेवाले व्यवहारों की अच्छाई या बुराई उनके सदुपयोग और दुरुपयोग करने पर है। लोकहित के लिये निर्ममता, निर्दयता, और हिंसा के आचरण भी श्रेयस्कर होते हैं।

अस्तु भगवान् के इस तरह डाँटने पर अर्जुन ढीला पड़ गया और धर्म के विषय में अपनी मूढ़ता यानी बिल्कुल अनभिज्ञता स्वीकार करके, श्रेयस्कर मार्ग बताने की शिक्षा देने के लिये भगवान् से प्रार्थना करने लगा।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामित्वां धर्म-सम्मूढ चेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहितन्मेशिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ २·७ ॥

अर्थ—कृपणता से मेरी बुद्धिमारी गई है और धर्म के विषय में मेरा चित्त मोह से ग्रस्त हो गया है अर्थात् मोह के वश होकर मैं कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय करने में असमर्थ हो गया हूँ; अतएव मैं आपकी शरण होकर पूछता हूँ कि मेरे लिये जो श्रेयस्कर हो सो आप मुझे बताइये; मैं आपका शिष्य हूँ, आप मुझे शिक्षा दीजिये (२·७)।

तब भगवान् ने मुस्कराते हुए उसको ताना देकर कहा कि पंडितों जैसी धर्म की बातें छाँटता है और मरने जीने का शोक करता है।

अशोच्यानन्व शोचस्तवं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूँश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ २-११ ॥

अर्थ—जो शोक करने के योग्य नहीं हैं, उनका तू शोक कर रहा है, और बुद्धिमानों की-सी बातें बनाता है; जो (वास्तविक) पंडित होते हैं, वे मरे हुओं तथा जीवितों का शोक नहीं करते (२-११)।

फिर पहले आत्मज्ञान का उपदेश देकर उसको अपने सच्चे स्वाभाविक धर्म पालन करने को कहा।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥ २-३१॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥ २-३२॥
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥ २-३३॥

अर्थ—यदि तू अपने धर्म को देखे, तो भी तुझे विचलित होना उचित नहीं है, क्योंकि क्षत्रिय के लिये धर्म-युद्ध से अधिक श्रेयस्कर और कुछ भी नहीं है (२-३१)। और हे पार्थ! अपने आप (बिना बुलाये) उपस्थित, एवं खुले हुए स्वग के द्वार-रूप इस तरह के युद्ध का अवसर पुण्यात्मा क्षत्रिय ही पाते हैं (२-३२)। यदि तू यह धर्म-युद्ध न करेगा तो अपने (उक्त) धर्म और कीर्ति (प्रतिष्ठा) को खोकर पाप का भागी बनेगा (२-३३)।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ २-४०॥

अर्थ—इस (समत्व-योग) में लगने पर आरंभ का नाश नहीं होता, अर्थात् सर्व-भूतात्मैक्य-साम्य भाव से व्यवहार करना आरंभ करने के बाद फिर वह व्यर्थ नहीं जाता, न इसमें कोई विघ्न होता है, और न इसका प्रत्यवाय अर्थात् उल्टा परिणाम ही होता है; (और) इस धर्म का थोड़ा भी आचरण महानभय से मुक्त करता है (२-४०)।

इन श्लोकों में भगवान् ने साफ़ साफ़ शब्दों में धर्म का खुलासा कर दिया है। फिर आगे तीसरे अध्याय में लोक संग्रह के लिये अपनी योग्यता के कर्तव्य कर्म करने का विस्तृत विधान करके, उसी अध्याय के ३५ वें श्लोक में अर्जुन को लक्ष्य करके अपने धर्म यानी कर्तव्यकर्म पर डटे रहने का सबको उपदेश दिया।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ ३-३५॥

अर्थ—दूसरों के धर्म यानी कर्त्तव्य कर्म का आचरण यदि उत्तम (प्रतीत) होता हो, और अपना धर्म उसकी अपेक्षा हीन (प्रतीत) हो, तो भी अपने लिए तो वही अच्छा है; अपने धर्म मे (व्यक्तित्व का भाव मिटाने रूप) मर जाना श्रेयस्कर है, पराया धर्म भयानक होता है (३-३५)।

और फिर अठारहवें अध्याय में चारों वर्णों के स्वाभाविक कर्मों का वर्णन करके ४६ वें श्लोक में कहा है कि—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ १८-४६॥

अर्थ—जिससे संसार की प्रवृत्ति हो रही है, और जिससे यह सम्पूर्ण विश्व व्याप्त हो रहा है उस (सबके आत्मा=परमात्मा) का अपने कर्मों द्वारा पूजन करने से मनुष्य सिद्धि को प्राप्त होता है। (१८-४६)।

इस श्लोक में स्पष्ट कर दिया है कि अपने स्वाभाविक कर्त्तव्य कर्म करना ही सर्व-व्यापक परमात्मा का सच्चा पूजन है अतः यही धर्म है।

पहिला मित्र—साम्प्रदायिक लोग इन ही श्लोकों से अपने साम्प्रदायिक धर्म की दूसरों के धर्म से श्रेष्ठता और उसमें मर-मिटने का अर्थ निकालते हैं।

मैं—हठधर्मी से चाहे कैसा ही अर्थ करे परन्तु पूर्वापर का मेल मिलाने से यह अर्थ टिक नहीं सकता। १८ वें अध्याय के एक ही ४७ वें श्लोक के पूर्वार्द्ध में धर्म और उत्तरार्ध मे उसी को स्वाभाविक नियत कर्म कहकर कोई सदेह ही नहीं रखा कि अपना कर्त्तव्य कर्म ही धर्म है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभाव नियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्॥ १८-४७॥

अर्थ—दूसरों के धर्म का आचरण (यदि) उत्तम (प्रतीत) हो, और उसकी अपेक्षा अपने धर्म का आचरण निकृष्ट (प्रतीत)

हो तो भी (अपने लिए) वही श्रेष्ठ है; स्वाभाविक नियत कर्म करने से पाप नहीं लगता (१८-४७)।

इससे आप लोग भली प्रकार निश्चय कर सकेंगे कि गीता में साम्प्रदायिक धर्मों को कोई स्थान नहीं दिया गया है, बल्कि इसकी काट की गई है और भगवान् ने अपने उपदेश के अन्त मे १८ वें अध्याय के ६६ श्लोक में अर्जुन को जोरदार असंदिग्ध शब्दों में इन सब साम्प्रदायिक धर्मों को सर्वथा छोड़ देने को कहा है।

तीसरा मित्र—यह आप निश्चित रूप से कैसे कहते हैं कि इन साम्प्रदायिक धर्मों को ही छोड़ने को कहा है।

मैं—क्योंकि किसी का स्वाभाविक धर्म तो छूट ही नहीं सकता वह तो सदा उसके साथ रहता है। ऊपर से लगाये हुए या माने हुए धर्म ही छूट सकते हैं। अर्जुन ने प्रथम अध्याय में इन माने हुए जाति-धर्मों और कुल-धर्मों की दुहाई दी थी और इन्हीं से उसको मोह हुआ था, इसीलिए इन्हें ही छुड़ाकर उसका मोह दूर करने का उपदेश दिया गया। अपने स्वाभाविक कर्त्तव्य कर्म तो कभी नहीं छोड़ने का कहते आये हैं, इसलिए इनको छोड़ने का कहने से परस्पर विरोध आता। जहाँ स्वाभाविक धर्म न छोड़ने को कहा है वहाँ एकवचन का प्रयोग हुआ है और माने हुए धर्मों को छोड़ने का कहा है वहाँ "सर्वधर्मान्" बहुवचन का प्रयोग हुआ है। इसलिए नाना साम्प्रदायिक धर्मों को ही छोड़ने को कहना प्रमाणित होता है।

पहिला मित्र—यज्ञादिक वैदिक कर्मकाण्डों की कर्त्तव्यता तो गीता में अवश्य कही है।

मैं—क्या गीता में किसी भी जगह नित्य नैमित्तिक और प्रायश्चित कर्म या सोलह संस्कार या देवकर्म, पितृ-कर्म या संध्या-वंदन, हवन, बलिवैश्वदेव आदि, जो वैदिक कर्मकांड समझे जाते हैं उनकी कर्त्तव्यता का विधान है?

पहिला मित्र—नहीं। परन्तु नियत कर्म करने पर तो बहुत जोर दिया है।

मैं—साम्प्रदायिक टीकाकारों ने तो जहाँ कर्म शब्द आया कि उसका वैदिक कर्मकाण्ड में ही अर्थ लगा दिया। परन्तु गीता में वैदिक कर्मकाण्ड के विधान का न तो प्रसंग ही था न किया गया है। अर्जुन युद्ध करने रूपी अपने स्वाभाविक कर्त्तव्य कर्म से मोहवश हटना चाहता था; उसका मोह दूर करके उसे अपने कर्त्तव्यकर्म में लगाने का भगवान् का उद्देश्य था। वहाँ वैदिक कर्मकाण्ड के विधान करने का प्रसंग ही कहाँ था। स्वाभाविक गुणों की योग्यता के आधार पर चार वर्णों के कार्य विभाग यानी पेशे या व्यवसाय करने की जो व्यवस्था १८ वे अध्याय के ४१ से ४४ श्लोकों में की गई है, वे ही नियत कर्म हैं, और उसके अनुसार समाज की सुव्यवस्था के लिए युद्ध करके दुष्टों का दमन करना अर्जुन का नियत कर्म था। इसी नियत कर्म के करने पर बार-बार जोर दिया गया है। इसी तरह सबको अपने-अपने स्वाभाविक गुणों की योग्यता अनुसार नियत कर्म

करने का निर्देश किया है। वैदिक कर्मकाण्ड का तो खुले शब्दों में खण्डन किया है केवल कर्मकाण्ड का ही नहीं किन्तु कर्मकाण्डों का विधान करनेवाले वेदों की मान्यता का भी निषेध किया है।

> व्यवसायात्मिकाबुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
> बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥२-४१॥
> यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
> वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥२-४२॥
> कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
> क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥२-४३॥
> भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयाऽपहृतचेतसाम् ।
> व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥२-४४॥
> त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्योभवार्जुन ।
> निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥२-४५॥
> यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
> तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥२-४६॥

अर्थ—हे कुरुनन्दन ! इस विषय में, निश्चयात्मिका व्यावहारिक बुद्धि एक ही होती है, यानी इस तरह आत्म-ज्ञान युक्त कर्म करनेवाले का एक यही निश्चय रहता है कि यह जगत एक ही आत्मा के अनेक रूप हैं। परन्तु जो इस आत्म-ज्ञान से व्यवहार नहीं करते, उनकी बुद्धि की बहुत शाखायें होकर वह (बुद्धि) अनन्त प्रकार की हो जाती है (२-४१) हे पार्थ ! वेदों के अर्थ-

वाद के रोचक वाक्यों में उलझे हुए तथा "इनके अतिरिक्त और कुछ नहीं है" ऐसा कहनेवाले, कामना में आसक्त और स्वर्ग ही है अन्तिम लक्ष्य जिनका ऐसे विचार हीन लोग, भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के निमित्त, बहुत से कर्मकाण्डों के प्रपंच करानेवाली एवं जन्म और कर्म रूप फल को देनेवाली मन लुभावनी बातें किया करते हैं। उन बातों से जिनका चित्त हर लिया गया है, उन भोग और ऐश्वर्य में अत्यन्त आसक्त लोगों की निश्चयात्मिका बुद्धि समाधि अर्थात् साम्य-भाव में स्थित नहीं होती (२-४२, ४३, ४४)।

हे अर्जुन ! (कर्मकाण्डात्मक) वेद तीन गुणों को ही विषय करते है; तू तीन गुणों से ऊपर उठ और द्वन्द्वों से परे, नित्य-सत्त्व में स्थित और योग-क्षेम की आसक्ति से रहित होकर (अपने वास्तविक स्वरूप) आत्मा का अनुभव कर। सब ओर पानी ही पानी हो जाने पर जितना प्रयोजन कुएँ से रह जाता है, उतना ही प्रयोजन (उक्त) ब्रह्मज्ञानी को सब वेदों से रहता है (२-४५, ४६)।

यदा ते मोह कलिल बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥२-५२॥
श्रुति विप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥२-५३॥

अर्थ—जब तेरी बुद्धि (सर्व-भूतात्मैक्य-ज्ञान में स्थित होकर) मोह (अज्ञान) के कीचड़ (दल-दल) से पार हो जायगी,

तब जो कुछ (भेद-वाद के शास्त्रों के वचन) तूने सुने हैं और भविष्य में जो कुछ सुनेगा, उन सब के प्रभाव से तू रहित हो जायगा, अर्थात् तू उन भेदवाद के शास्त्रों के रोचक भयानक वचनों की उपेक्षा कर देगा (२-५२)। कर्मकाण्डात्मक वेदादि शास्त्रों के भेद-भाव के नाना भाँति के वाक्यों से विचलित होकर भटकती हुई तेरी बुद्धि जब सर्व भूतात्मैक्य साम्य-भाव के एक निश्चय पर अचल-अटल हो जायगी तब तुझे समत्व-योग प्राप्त होगा, अर्थात् उस समय तू सर्व-भूतात्मैक्य-साम्यभाव युक्त व्यवहार करने में पूर्णतया कुशल होगा (२-५३)।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्मातिवर्तते ॥ ६-४४ ॥

अर्थ—पूर्व जन्म के उसी अभ्यास से वह स्वतः ही उसी समत्व-योग की तरफ खींचा जाता है; समत्व-योग का जिज्ञासु भी शब्द ब्रह्म अर्थात् कर्मकाण्डात्मक वेदों का उल्लंघन कर जाता है (६-४४)।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ ८-२८ ॥

अर्थ—इस रहस्य को जाननेवाला समत्वयोगी वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, तप और दान के जो पुण्य-फल शास्त्रों में कहे हैं,

उन सब का अतिक्रमण करके अर्थात् उन्हें पीछे छोड़कर सनातन परमपद को पाता है (८-२८)।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा,
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गति प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्र लोक—
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देव भोगान्॥ ९-२०॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्ग लोकं विशालम्
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोक विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते॥ ९-२१॥

अर्थ—त्रैविद्य अर्थात् ऋक्, यजु और साम इन तीनों वेदों में विधान किये हुये सकाम कर्म करनेवाले एवं सोम रस पीनेवाले पुरुष, यज्ञों द्वारा मेरा पूजन कर के (स्वर्ग प्राप्ति के जो बाधक पाप है उन) पापों से शुद्ध होकर स्वर्ग प्राप्ति की प्रार्थना करते हैं। वे अपने पुण्यों के फलस्वरूप इन्द्रलोक को प्राप्त होकर स्वर्ग में देवताओं के दिव्य (सूक्ष्म) भोगों को भोगते हैं। वे उस विशाल स्वर्ग-लोक का उपभोग करके, पुण्य के क्षीण होने पर मृत्यु लोक में आते हैं। इस तरह वेद-त्रयी में विधान किये हुए धार्मिक कर्मकाण्ड करनेवाले कामना परायण लोग (अपनी भावना के फल स्वरूप) आवागमन के चक्कर मे घूमते रहते हैं (९-२०, २१)।

न वेद यज्ञाध्ययनैर्न दानै

र्न चक्रियाभिर्नतपोभिरुग्रैः।

एवं रूपः शक्य अहं नृलोके

द्रष्टु त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ११ ४८ ॥

अर्थ—हे कुरुओं में श्रेष्ठ वीर ! न वेदों और यज्ञों से, न पठन-पाठन से, न कर्मकाण्ड से और न उग्र तपों से, मनुष्यलोक में तेरे सिवाय कोई और मुझे इस रूप में देख सकता है (११-४६)।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।

शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ११-५३ ॥

अर्थ—न वेदों से, न तप से, न दान से, न यज्ञ से, मैं इस प्रकार देखा जा सकता हूँ, जैसा कि मुझे तूने देखा है (११-५३)।

तीसरा मित्र –इन वाक्यों से तो विदित होता है कि भगवान् कृष्ण नास्तिक थे क्योंकि वेदों की निन्दा करनेवाले को ही हमारे यहाँ नास्तिक माना है।

मैं—भगवान् कृष्ण कदापि नास्तिक नहीं थे बल्कि उनके जैसा आस्तिक तो शायद ही कोई होगा। जो क्षण-क्षण मे बदलने वाले और नाशवान् नाना शरीरों और जगत के अन्दर एक ही सत्य, नित्य, अविनाशी सनातन आत्मा का अस्तित्व मानता है और उसका अनुभव अपने आप में करके आत्मविश्वासी या आत्मबली होता है और कर्मविपाक के नियमानुसार पुनर्जन्म के

सिद्धान्त को मानता है, उसके मुकाबिले में सच्चा आस्तिक दूसरा कौन हो सकता है।

तीसरा मित्र—पर जब उनने वेदों की निन्दा की है और वैदिक कर्मकाण्ड का खंडन किया है, तो हिन्दू धर्म या आर्य संस्कृति के तो समूल नाश करने का ही प्रयत्न किया है। यदि गीता का वही अर्थ किया जाय जो कि आप कह रहे हैं तो हिन्दू धर्म का तो अवश्य ही नाश हो जावेगा।

मैं—मैं आप से पहले ही निवेदन कर चुका हूँ कि धर्म के विषय में लोगों को बहुत भ्रम है। कर्मकाण्डों की विधि या उपासना के प्रकार या रहन-सहन, वेश भूषा आदि के नियम या मर्यादायें धर्म नहीं है। ये तो साम्प्रदायिक बाड़ा बन्दी है। कोई किसी बाड़े का पशु होता है कोई किसी अन्य बाड़े का। फिर कोई किसी एक बाड़े से निकलकर दूसरे में चला जाता है। इस तरह ये बदलते भी रहते हैं। कभी कोई पुरानी सम्प्रदाय मिट जाती है कभी कोई नई खड़ी हो जाती है। इस तरह के अस्थायी मजहब या सम्प्रदायें सच्चा हिन्दू धर्म नहीं है। हिन्दू धर्म तो सनातन है, जिसका कभी नाश या ह्रास नहीं होता और सनातन केवल आत्मा ही है। उस सनातन आत्मा के अनुभव के आधार पर सब के अपने-अपने स्वाभाविक गुणों की योग्यतानुसार जो सांसारिक व्यवहार, सब के हित को लक्ष्य में रख कर किये जाते हैं वही सनातन धर्म है। आत्मा के सिवा जितने बनाव या शरीर हैं वे सब असनातन हैं इसलिए आत्मज्ञान से रहित जो भी

क्रियायें की जाती हैं वे असनातन हैं। सनातन धर्म तो सार्वजनिक (Universal) यानी सबका धर्म है। इसका पालन स्त्री, पुरुष मात्र किसी भी प्रकार के जाति, वर्ण, आश्रम, देश काल आदि के भेद बिना समान भाव से कर सकते हैं। इस पर किसी का ठेका नहीं है। भगवान् कृष्ण ने उसी सनातन धर्म की स्थापना के लिए ही अवतार लिया था, इसलिए क्रांति करके असनातन साम्प्रदायिकता का खण्डन किया और आध्यात्मिक आधार पर सच्चे सनातन धर्म का गीता में विधान किया। यदि गीता का यह रहस्य अच्छी तरह समझकर इस पर चला जावे तो सच्चे सनातन हिन्दू धर्म का आचरण हो सकता है और तभी लोगों को सब प्रकार की उन्नति यानी शांति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति हो सकती है। जब तक क्रांतिकारी उपायों से इन बाड़ा बन्दी की सम्प्रदायों या मजहबों से निस्तार नहीं होता तब तक देश में सुख शांति नहीं हो सकती। यह उस क्रांतिकारी महापुरुष भगवान् कृष्ण का ही आत्मबल और साहस था कि वेदों और कर्मकांडों में अटूट श्रद्धा रखनेवाले समाज में निडर होकर उस साम्प्रदायिकता का खंडन किया और वर्तमान में भी इसी तरह का कोई क्रांतिकारी महापुरुष प्रकट होगा तो इतना साहस कर सकेगा।

तीसरा मित्र—कृष्ण ने वेदों के कर्मकांड का ही खंडन किया है या समूचे वेदों का ?

मैं— वेद के अंतिम भाग वेदान्त यानी उपनिषदों को तो उन्होंने अपने सिद्धान्त का आधार ही माना है। १३ वें अध्याय के चौथे श्लोक मे,

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।

और १५ वें अध्याय के पन्द्रहवें श्लोक मे,

'वेदान्तकृद्वेद विदेव चाहम्'

कहकर उनका बड़ा आदर किया है। बात यह है कि भगवान् कृष्ण ने बुद्धि-योग यानी विचार स्वतन्त्रता को सबसे अधिक महत्व दिया है। जो विषय बुद्धि की कसौटी पर युक्तियुक्त उतरने वाले हैं उनको उन्होंने पूरी तरह ग्रहण किया है और जो स्वतन्त्र विचार की परीक्षा में नहीं टिक सकते थे, उन साम्प्रदायिक अंधविश्वासों को उनने निशंक होकर ठुकरा दिया। गीता मे बुद्धि यानी विचार स्वतंत्रता को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। भगवान् ने अपने उपदेश के आरम्भ से लेकर अत तक बुद्धि से काम लेने पर ही जोर दिया है।

दूसरे अध्याय के ग्यारहवें श्लोक मे अर्जुन को विचारहीन अंधश्रद्धा से शास्त्रोक्त पंडिताई छाँटने के लिए ताना दिया है और १८ वें अध्याय के ६३ वें श्लोक मे साफ कह दिया है कि मैंने जो गूढ़ से गूढ़ ज्ञान तुझे कहा है, इस पर पूर्णतया विचार करके फिर जो अच्छा लगे सो कर।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥ १८-६३॥

अर्थ—इस प्रकार मैंने तुझे यह गुह्य से भी गुह्य ज्ञान कहा है; इस पर पूर्ण-रूप से अच्छी तरह विचार करके (फिर) तेरी जो इच्छा हो वह कर ॥ १८-६३ ॥

बताइये इससे अधिक विचार स्वतंत्रता क्या हो सकती है। अपने कहे हुए इतने पूर्ण ज्ञान को भी स्वतन्त्र विचार किये बिना केवल अंध श्रद्धा से मान लेने की मनाही की है। बीच के सब अध्यायों में भी बुद्धि से काम लेने की बहुत महिमा कही है, यहाँ तक कि पूर्णता को प्राप्त हुए आत्मज्ञानी समत्वयोगी को "स्थित-प्रज्ञ" यानी निश्चित बुद्धिमान् कहकर उसके जीवन की स्थिति का दूसरे अध्याय के अंतिम १८ श्लोकों में वर्णन किया है। इसी तरह चौथे अध्याय के १८ वें और १९ वें श्लोकों में समत्वयोगी की बुद्धि की प्रशंसा की है।

पहिला मित्र—इससे क्या यह समझना चाहिये कि सबको अपने-अपने विचार के अनुसार काम करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। यदि ऐसा है तब तो चोर को चोरी करने और दुष्ट को अत्याचार करने की भी पूर्ण स्वतन्त्रता हो जायगी क्योंकि उसके विचार में वैसा ही करना ठीक होता है तभी तो वह करता है।

मैं—यद्यपि बुद्धि से सबको काम लेना चाहिये क्योंकि मनुष्य की मनुष्यता इसी में है। पशु से मनुष्य इसीलिये ऊँचा है कि उसमें बुद्धि का विशेष विकास होता है। यदि मनुष्य बुद्धि से काम नही ले तो वह एक प्रकार का पशु ही रहेगा। इसलिये गीता किसी की बुद्धि को गिरवी रखकर उसे विचारहीन नहीं बनाती,

किन्तु प्रत्येक विषय पर तर्क करके उसे अच्छी तरह समझने का पूर्ण स्वतन्त्रता देती है । पर यथार्थ निर्णय वही कर सकता है जिसकी बुद्धि सात्विक हो। मैं पहले कह आया हूँ कि सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के ऊपर रहता है, इसलिए यद्यपि राजसी तामसी बुद्धि के लोगों को भी किसी व्यक्ति या ग्रन्थ या सिद्धान्त के अंध विश्वास में न रहकर स्वतन्त्र विचार अवश्य करना चाहिए परन्तु अंतिम निर्णय सात्विक बुद्धि के लोगों का ही मानना चाहिये । जिस बुद्धि मे सबकी एकता का ज्ञान या निश्चय हो वही सात्विकी बुद्धि होती है और वही यथार्थ निर्णय कर सकती है।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्त विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥१८-२०॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्ध मोक्षंच या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी
॥१८-३०॥

अर्थ—जिस (ज्ञान) से अलग-अलग सारे भूतप्राणियों मे एक, अविभक्त और सदा एक समान रहनेवाले भाव का अनुभव होता है, उस ज्ञान को सात्विक ज्ञान समझ (१८-२०) । प्रवृत्ति अर्थात् कर्म करने, और निवृत्ति अर्थात् कर्म से रहित होने, कार्य अर्थात् कौन-सा कर्म करना चाहिये और अकार्य अर्थात् कौन-सा कर्म नहीं करना चाहिये, भय अर्थात् किस बात से डरना चाहिये और अभय अर्थात् किस बात से नहीं डरना चाहिये, बन्धन

क्या है और मोक्ष क्या है, (इनके रहस्य को) जो बुद्धि यथार्थ रूप से जानती है, हे पार्थ ! वह बुद्धि सात्विकी है (१८-३०)

जगत की भिन्नता यानी लोगों के पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व को सच्चा मानने अथवा बेसमझी से किसी एक विषय में ही विश्वास करनेवाली राजस और तामस बुद्धि यथार्थ निर्णय नहीं कर सकती किन्तु विपरीत या उल्टा निर्णय करती है।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नाना भावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥१८-२१॥
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥१८-२२॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चा कार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥१८-३१॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥१८-३२॥

अर्थ—जिस ज्ञान से मनुष्य सब भूतप्राणियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक भावों को पृथक्-पृथक् जानता है, उस ज्ञान को राजस ज्ञान समझ। और जो तात्विक विचार से शून्य, किसी हेतु के बिना, एक ही कार्य को सब कुछ मानकर उसी मे आसक्त रहने का तुच्छ ज्ञान है—वह तामस ज्ञान कहा जाता है ॥१८-२१, २२॥ हे पार्थ ! जिस बुद्धि से मनुष्य धर्म और अधर्म को, तथा कार्य और अकार्य को अयथार्थ रूप से जानता है वह बुद्धि राजसी है। हे पार्थ ! मोह से आच्छादित जो बुद्धि अधर्म को

धर्म मानती है, तथा सम्पूर्ण अर्थों को विपरीत ही समझती है वह तामसी बुद्धि है ॥१८-३१, ३२॥

इसलिये जो राजस, तामस बुद्धि के लोग अयथार्थ या उल्टा निर्णय करके विरुद्धाचरण करते हैं, उन्हें सात्विकी बुद्धि के समत्व-योगी शिक्षा देकर अथवा दबाकर ठीक रास्ते पर लाते हैं। राजस-तामस बुद्धि के लोग कुछ विचार करेंगे तब ही तो सात्विक बुद्धि के समत्व-योगियों की शिक्षा अच्छी तरह धारण कर सकेंगे। विचार हीन, जड़ बुद्धि के अंधविश्वासी लोग तो सात्विक उपदेश धारण करने योग्य भी नहीं होते।

पहिला मित्र—गीता में वर्णित स्थित-प्रज्ञ या समत्व-योगी तो संसार में कोई हो ही नहीं सकता, इसलिए गीता का उपदेश व्यवहार में आने लायक नहीं प्रतीत होता। जन साधारण के लिये तो समत्वयोग निरर्थक ही जान पड़ता है।

मैं—इस समय समाज में तमोगुण की प्रधानता है; यह मैंने पहले ही कह दिया है। इसीसे हम लोगों का दृष्टिकोण भी तमो-गुण के प्रभाव से, विशेष रूप से आधिभौतिक हो रहा है, इसलिये यह ज्ञान-विज्ञान यानी आध्यात्मिक ज्ञान और उसके आधार पर व्यवहार करने का विज्ञान, बिल्कुल अव्या-वहारिक प्रतीत होता है और इतनी उच्च कोटि के पुरुष का भी संसार में होना हमारी समझ में नहीं आता, जो इस तरह आत्म-ज्ञान युक्त सांसारिक व्यवहार करने का मार्ग

दिखा सके। परन्तु जिस समय, 'जिस देश या जिस समाज में सत्वगुण की प्रधानता होती है तब लोगों की बुद्धि का स्तर ऊँचा होता है और उस समाज में ऐसे महापुरुष उत्पन्न होते हैं। पूर्वकाल में इस देश में ऐसे अनेक महापुरुष हुवे थे जिनका उल्लेख गीता में ही भगवान् ने किया है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ ३-२० ॥

अर्थ—जनक आदि ज्ञानी पुरुष कर्म करते हुए ही आत्मानुभव रूपी परम सिद्धि में स्थित रहे हैं। अतः लोकसंग्रह की दृष्टि से तुझे भी कर्म करना हीयोग्य है। (३-२०)

वीतरागभय क्रोधामन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ ४-१० ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ ४-१५ ॥

अर्थ—बहुत से लोग मेरे (परमात्मा के) साथ तन्मय होकर, मेरे आश्रय से अर्थात् आत्मविश्वास से राग, भय और क्रोध से रहित होकर एवं आत्मज्ञान रूपी तप से पवित्र होकर, मेरे भाव में आ मिले हैं ॥ ४-१० ॥

पूर्वकाल में भी कर्मों के बन्धनों से मुक्त रहने की इच्छा रखनेवालों ने इसी तरह जान कर अर्थात् इसी ज्ञान युक्त कर्म किये हैं ॥ ४-१५ ॥

हाँ यह बात अवश्य है कि इतनी उच्च स्थिति तक विरले ही पहुँचते हैं। यह गीता में भी स्वीकार किया गया है।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ ७-३॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ ७-१६॥

अर्थ—हजारों मनुष्यों में कोई विरला ही सिद्धि के लिये, अर्थात् सर्वात्मा-परमात्मा को यथार्थतया जानने के लिये यत्न करता है; और उन यत्न करनेवाले सिद्धों अर्थात् साधकों में विरला ही मुक्त परमात्मा को तत्त्वतः यानी यथार्थरूप से जानता है॥ ७-३॥

बहुत जन्मों के अनन्तर ज्ञानवान पुरुष, इस अनुभव के दृढ़ हो जाने पर कि "सब कुछ वासुदेव (परमात्मा) ही है" मुक्त में मिल जाता है; वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है अर्थात् ऐसे महात्मा विरले ही होते हैं॥ ७-१६॥

यद्यपि पूर्णता विरले ही प्राप्त कर सकते हैं परन्तु अन्य विद्याओं की तरह इस ज्ञान-विज्ञान की ब्रह्म विद्या की भी बहुत श्रेणियाँ हैं। जिस देश या समाज के लोग इसके अभ्यास में लग जाते हैं वे अपनी योग्यता के अनुसार थोड़ी या बहुत इसकी प्राप्ति कर सकते हैं और इसमें जो जितनी उन्नति करता है वह उतना ही सुख समृद्धि सम्पन्न होता है। इसका थोड़ा अभ्यास भी बहुत लाभदायक होता है। इसके अभ्यास का

आरम्भ करनेवाला भी दूसरे अज्ञानी लोगों से तो बहुत ऊँचा उठ जाता है।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्प सप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ २-४० ॥

अर्थ—इस समत्व-योग में लगने पर आरंभ का नाश नहीं होता अर्थात् सर्व-भूतात्मैक्य साम्य भाव से व्यवहार करना आरंभ करने के बाद फिर वह व्यर्थ नहीं जाता; न इसमें कोई विघ्न होता है, और न इसका प्रत्यवाय अर्थात् उल्टा परिणाम ही होता है; और इस धर्म का थोड़ा भी आचरण महान् भय से मुक्त करता है ॥ २-४० ॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३-३१ ॥
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३-३२ ॥

अर्थ—जो लोग दोष दृष्टि से रहित होकर श्रद्धापूर्वक मेरे इस नित्य एवं हितकर मत (सिद्धान्त) के अनुसार आचरण करते हैं, वे भी कर्मों के वन्धन से छूट जाते हैं। परन्तु जो दोष-दृष्टि करके मेरे (इस नित्य) सिद्धान्त के अनुसार आचरण नहीं करते, उन विवेक हीन, सर्वज्ञान-विमूढ़ अर्थात् निरे मूर्खों को नष्ट हुए जानो (३-३१, ३२)।

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
नहि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ६-४० ॥

अर्थ—हे पार्थ ! इस लोक और परलोक (दोनों) में उसका (कभी) विनाश नहीं होता; क्योंकि हे तात ! कल्याण कारक कर्म (इस समत्व-योग के अभ्यास) में लगे रहनेवाले किसी भी मनुष्य की दुर्गति नहीं होती (६-४०)।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ६-४४ ॥
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परांगतिम् ॥ ६-४५ ॥
तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ६-४६ ॥

अर्थ—पूर्वजन्म के उसी अभ्यास से वह स्वतः ही उस समत्वयोग की तरफ खींचा जाता है; समत्व-योग का जिज्ञासु भी शब्द ब्रह्म अर्थात् कर्मकाण्डात्मक वेदों का उल्लंघन कर जाता है और प्रयत्न पूर्वक अभ्यास करनेवाला योगी कई जन्मों में उन्नति करता हुआ अज्ञान रूपी मैल से शुद्ध होकर अंत मे परम गति को पा जाता है। तपस्वियों से योगी श्रेष्ठ है और ज्ञानियों से भी वह श्रेष्ठ माना गया है; और कर्मियों अर्थात् कर्मकांडियों से भी योगी श्रेष्ठ है। इसलिए हे अर्जुन ! तू योगी हो अर्थात् समत्व-योग मे लग (६-४४, ४५, ४६)।

जिस तरह साधारण लौकिक विद्याओं के पूर्ण विद्वान् या पंडित तो बहुत थोड़े होते हैं, नीचे की श्रेणियों तक पढ़े हुए अधिक होते हैं और अधिकतर लोग केवल साक्षर ही होते हैं,

परन्तु इससे यह नहीं होता कि पूर्ण विद्वान् होना असंभव है इसलिये पढ़ना-लिखना निरर्थक है। जो जितना पढता है उतना ही वह निरक्षर लोगों की अपेक्षा उन्नत होता है और उतना ही उसको लाभ होता है। जब लौकिक विद्याओं के पूर्ण विद्वान् थोड़े होने पर भी उन्हें पढ़ना आवश्यक और इतना लाभदायक है तो ज्ञान-विज्ञान की ब्रह्मविद्या, जो आधिभौतिक और आध्यात्मिक सब प्रकार की उन्नतिकारक है, उसकी प्राप्ति में हताश कदापि नहीं होना चाहिये। क्योंकि जितनी प्राप्त हो जावे उतना ही लाभ होगा। हानि तो कभी कुछ हो ही नहीं सकती। इसका थोड़ा अभ्यास भी महान् उन्नतिकारक है।

पहिला मित्र—आप कहते हो कि गीता में कर्मकांड का बिल्कुल खण्डन है तो फिर यज्ञ की अवश्य कर्त्तव्यता अर्जुन को क्यों कही।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्त सङ्गः समाचर॥ ३-९॥

अर्थ—यज्ञ के लिए किये जाने वाले कर्मों के अतिरिक्त जो कर्म किये जाते हैं उनसे ही ये लोक बँधते हैं। तू सङ्ग-रहित होकर, उपरोक्त यज्ञ के लिए कर्म करता रह (३-९)।

मैं—यह हवन करने के कर्मकांड की कर्त्तव्यता कहाँ कही है। यहाँ तो यज्ञ के लिए कर्म करने को कहा है। क्या उस समय अर्जुन को यह उपदेश देने का अवसर था कि हवन करने के लिए समिधा, घी, जौ, तिल आदि एकत्र कर। यदि हवन के लिए

कर्म करने के अतिरिक्त और सब कर्म बन्धन रूप ही होते तो शरीर की स्वाभाविक आवश्यकताओं—भूख-प्यास आदि की शांति करने के लिए जो भी उद्यम किया जाय, वह भी बन्धन रूप हो जायगा और वे काम न करने से शरीर ही नहीं रहेगा तो हवन की सामग्री ही कौन जुटावेगा। भगवान् अर्जुन को बार-बार युद्ध करने को कहते हैं और इसी को श्रेयस्कर बताते हैं। यदि इस श्लोक का यही अर्थ होता कि हवन के अतिरिक्त और सब (क्षात्र धर्म आदि) कर्म बन्धन रूप ही हैं तो बिल्कुल असगति हो जाती। भगवान् अर्जुन को इस तरह के अव्यावहारिक, बेतुके और परस्पर विरोधी उपदेश कैसे दे सकते थे ? इसी श्लोक के पहलेवाले श्लोक मे साफ कहा है कि—

नियतं कुरु कर्मत्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मण ।
शरीर यात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः ॥ ३-८ ॥

अर्थ—तू अपने स्वाभाविक गुणों की योग्यतानुसार नियत कर्म अर्थात् अपने कर्त्तव्य कर्म कर; कर्म न करने की अपक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है। कर्म न करने से तो तेरी शरीर यात्रा भी नहीं हो सकेगी, अर्थात् कर्म किये बिना शरीर का निर्वाह ही नहीं हो सकता (३-८)।

अर्जुन का नियत कर्म उसके स्वाभाविक गुणों के अनुसार युद्ध करना था। पर वह नियत कर्म केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लिए ही न होकर समाज की सुव्यवस्था यानी लोक-

संग्रह रूपी यज्ञ के लिए होने से उनमें कोई बन्धन नहीं रहता। यही नवें श्लोक का तात्पर्य है।

पहिला मित्र—चौथे अध्याय के ३१ वें श्लोक में कहा है कि यज्ञ से बचे हुए अमृत-भोजन करनेवाला सनातन ब्रह्म को प्राप्त होता है। यज्ञहीन का यह लोक भी नहीं है तो दूसरा कहाँ है।

मैं—परन्तु यज्ञ का स्वरूप क्या है उस पर विचार करना चाहिये। गीता में विधान किये हुए यज्ञ के यथार्थ रूप का खुलासा मैं आगे चलकर दूसरे प्रसंग में करूँगा। तब आपके समझ में आ जायगा कि वास्तव में यज्ञ क्या है। लोक रूढ़ि में यज्ञ शब्द का अर्थ कार्मकांड का हवन ही लेते हैं पर गीता को यह मान्य नहीं है।

पहला मित्र—आठवें अध्याय के छठें श्लोक में भगवान् ने कहा है कि मनुष्य जिस-जिस भाव का चिन्तन करता हुआ शरीर छोड़ता है, मरने के बाद वह उस भाव को प्राप्त होता है और सोलहवें श्लोक में कहा है कि ब्रह्मलोक पर्यन्त सब लोक पुनरावर्ती हैं। यानी उन लोकों में गया हुआ जीव पीछा लौटता है। फिर उसी अध्याय के तेईस से पच्चीस तक के श्लोकों में मरने के बाद दो गतियों का वर्णन है। ब्रह्मज्ञानी उत्तरायण के छः महीनों में शुक्लपक्ष और दिन के समय मरकर शुक्ल मार्ग से ब्रह्मलोक को जाता है, फिर पीछा नहीं आता; और कर्मयोगी दक्षिणायन के छः महीनों में कृष्ण पक्ष और रात के समय मर-

कर कृष्ण मार्ग से चन्द्र लोक में जाकर पीछा लौटता है ऐसा कहा है। यह परस्पर विरोधी वर्णन हैं। इनकी संगति नहीं होती। इसके सिवा जब गीता बुद्धि-योग को ही प्रधानता देती है, तब विचार की कसौटी पर न टिक सकनेवाली ये बातें कैसे कही गई हैं ? क्या ब्रह्म-ज्ञानी उत्तरायण के छः महीनों से शुक्लपक्ष और दिन के समय ही मरता है; दूसरे किसी समय मे नहीं मरता। और कर्म करनेवाला क्या दक्षिणायन के छः महीनों में कृष्ण पक्ष और रात के समय के सिवाय और किसी समय में नहीं मरता। और फिर मरने के काल के साथ, ब्रह्मज्ञानी के लिये "अग्नि ज्योति" और कर्मकाण्डी के लिये "धूम" शब्द चौबीसवे और पचीसवे श्लोकों के आरम्भ मे लगाये हुए हैं, इनका मतलब कुछ भी समझ में नहीं आता। मरनेवाला अग्नि की ज्योति और धूँवे में कैसे जाता है ?

मैं—यह विश्वास बहुत पुराने समय से चला आता है कि जिन छः महीनों मे सूर्य उत्तरायण में होता है उस काल मे शुक्ल पक्ष और दिन के समय मरनेवाला मोक्ष को जाता है, और दक्षिणायन के छः महीनों मे कृष्ण-पक्ष और रात के समय मरनेवाला जन्म मरण के चक्कर में घूमता है। लोगों की इस मान्यता का भगवान् ने यहाँ उल्लेख मात्र किया है, पर यह उनका अपना मत नहीं है। छब्बीसवें, सत्ताईसवे और अठाईसवें श्लोकों में यह स्पष्ट कर दिया है कि शुक्ल और कृष्ण दो गतियाँ जगत में सदा से मानी जा रही हैं परन्तु समत्व-योग

इन मान्यताओं की उलझन में नहीं पड़ता। उसकी स्थिति इनसे बहुत ऊँची होती है।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥८-२६॥
नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तोभवार्जुन ॥८-२७॥
वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्य फलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्
॥८-२८॥

अर्थ—जगत के शुक्ल और कृष्ण ये दो मार्ग सदा से माने गये हैं; एक से लौटना नहीं होता और दूसरे से लौटना होता है। हे पार्थ! इन मार्गों को तत्त्व से जाननेवाला कोई भी समत्व-योगी मोहित नहीं होता; इसलिये हे अर्जुन! तू सदा-सर्वदा समत्व-योग में युक्त रह। इस पूर्वोक्त (ज्ञान विज्ञान के रहस्य) को जाननेवाला समत्वयोगी वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, तप और दान के जो पुण्य-फल शास्त्रों में कहे हैं, उन सबका अतिक्रमण करके अर्थात् उन्हे पीछे छोड़कर सनातन परमात्म पद को पाता है (८-२६,२७, २८)।

इन श्लोकों का अर्थ साफ है, कि गीता इन मान्यताओं को आश्रय नहीं देती किन्तु उल्टा इनका निषेध करती है। इन श्लोकों के उल्लेख का तात्पर्य्य इन मान्यताओं को पुष्ट करने में नहीं किन्तु इनको मिटाने में है। अर्जुन को इन मान्यताओं में न

उलझने के लिए सावधान करने और समत्वयोगी की महिमा बताने को ही इस विषय का यहाँ उल्लेख किया गया है।

पहिला मित्र—पांडवों के राजसूय और अश्वमेध यज्ञ स्वयं भगवान् कृष्ण ने कराये थे। वह कर्मकांड ही तो था।

मैं—मैं तो गीता की क्रांति का वर्णन करता हूँ और गीता में राजसूय और अश्वमेध आदि का कोई विधान नहीं है। महाभारत में यह वर्णन आता है, सो उसमें सभी तरह की बातें आती है। आप जरा उस समय के देश की परिस्थिति पर दृष्टिपात करें। हवन-यज्ञ करने की प्रथा का उस समय इतना जोर था कि उसके बिना आर्य लोगों का कोई कार्य नहीं होता था। प्रत्येक समाज समय-समय पर और विशेष अवसरों पर उत्सव मनाया करता है। उत्सव मनाना समाज के जीवन का चिन्ह है और उत्सवों के अवसर पर कोई-न-कोई विधिविधान या दिखाव होना आवश्यक होता है। आर्य लोग प्रत्येक उत्सव के साथ हवन किया करते थे। राजा लोग अनेक अवसरों पर उत्सव मनाते थे तब हवन अवश्य ही करते थे। अपने राज्य की दृढ़ता और सत्ता का प्रभाव दिखाने के लिये राजसूय और अश्वमेध यज्ञ किया करते थे, जिसमें अपने अधीनस्थ सामन्तों और मित्र राजाओं को बुलाते थे। इस प्रयोजन के लिए घोड़ा छोड़ा करते थे और जितने देश में वह घोड़ा निर्विरोध घूम आता था उतने देश पर राजा का चक्रवर्ती राज्य होता था। यदि कोई दूसरा

राजा उस घोड़े को रोकता था तो उसके साथ लड़ाई करके उसको पराजित किया जाता था। तात्पर्य यह कि राजसूय और अश्वमेघ यज्ञों का मुख्य उद्देश्य राजनैतिक होता था। धार्मिक कम होता था। अँग्रेजों के जमाने में कई बार दिल्ली दरबार हुए। वे एक प्रकार से राजसूय यज्ञ ही थे।

पहिला मित्र—पर इन यज्ञों का पारलौकिक फल भी बताया जाता है।

मैं—प्रत्येक काम मे श्रद्धा उत्पन्न करने के लिये उसका अदृश्य लाभ भी बताया जाता है। इसी को गीता के दूसरे अध्याय के इकतालीसवें श्लोक में 'पुष्पिता वाणी' कहा है।

दूसरा मित्र—गीता में तप का भी तो विधान है।

मैं—हाँ। पर वह तप शरीर को सुखाने या कष्ट देनेवाला आसुरी तप नहीं है जो पाखंड करके लोगों को दबाने, अपना रोब जमाने या अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए दूसरों को दुःख देने की नीयत से किया जाता है। गीता में विधान किया हुआ तप सभ्य समाज का शिष्टाचार है।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १७-१४ ॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १७-१५ ॥
मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १७-१६ ॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधिं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥ १७-१७॥

देव, यानी दैवी सम्पत्ति के सज्जन, ब्राह्मण, बड़े और बुद्धिमान का पूजन, शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा (यह) शारीरिक तप कहा जाता है। ऐसे वचन बोलना, कि जिनसे उद्वेग उत्पन्न न हो, तथा जो सच्चे, प्यारे एवं हितकर हों; और विद्याध्ययन के अभ्यास में लगे रहना-यही वाणी का तप कहा जाता है। मन की प्रसन्नता, सौम्य भाव, मनन-शीलता, संयम और भावों की शुद्धि-यह मन का तप कहा जाता है। फल की इच्छा से रहित और सब की एकता के भाव में जुड़े हुए मनुष्यों द्वारा, परम श्रद्धा से किया हुआ यह तीन प्रकार का तप सात्विक कहलाता है। (१७-१४ से १७)

शरीर को कष्ट देनेवाले तामसी, आसुरी तप की तो बहुत निन्दा की गई है।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामराग बलान्विताः॥ १७५॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥ १७-६॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥ १७-१८॥
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥ १७-१९॥

अर्थ—जो लोग दंभ और अहंकार से युक्त होकर काम, राग और हठ पूर्वक सत्-शास्त्रों के विरुद्ध घोर तप करते हैं, वे मूर्ख लोग शरीर में स्थित भूत-समुदाय को कृश करते हैं, और शरीर के अन्दर रहनेवाले मुझको भी कष्ट देते हैं, उनको आसुरी श्रद्धा के जानो ॥ १७-५।६ ॥

जो तप सत्कार, मान और पूजा प्राप्त करने के निमित्त पाखंड से किया जाता है, उस अस्थिर और अनिश्चित तप को यहाँ राजस (तप) कहा है। मूर्खता पूर्ण दुराग्रह से शरीर और मन को पीड़ा देकर, अथवा दूसरों का बुरा करने के लिए जो तप किया जाता है, उसे तामस (तप) कहते हैं। ॥१७-१८।१९ ॥

दूसरा मित्र—दान की भी तो अवश्यकर्त्तव्यता कही गई है।

मैं—हाँ। जिनके पास अपनी वास्तविक आवश्यकता से अधिक धन या पदार्थ हों उनका यह अवश्य कर्त्तव्य बताया गया है कि वे दूसरों की आवश्यकतायें पूरी करें। इसलिए समाज की सुव्यवस्था के लिए दान देने की व्यवस्था की गई है। पर गीता में दान इस लोक या परलोक में पुण्य फल प्राप्त करने या कीर्ति, मान आदि लाभ की भावना से करने का विधान नहीं है किन्तु केवल समाज सेवा के भाव से देने की व्यवस्था है।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ १७-२० ॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ १७-२१ ॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १७-२२ ॥

अर्थ—दान अवश्य देना चाहिए, इस भाव से देश, काल और पात्र का विचार करके, बदले मे उपकार न करनेवाले को जो दान दिया जाता है—वह सात्विक दान कहा गया है। परन्तु प्रत्युपकार अर्थात् बदले में अपना किसी भी प्रकार का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए, अथवा फल के उद्देश्य से तथा क्लेश पाकर जो दान दिया जाता है—वह राजस दान कहा गया है। अयोग्य देश और अयोग्य काल मे कुपात्रों को, सत्कार के बिना तिरस्कार पूर्वक जो दान दिया जाता है—वह तामस दान कहा गया है ॥ १७ २०,२१,२२ ॥

पहिला मित्र—'मुक्ति" के विषय मे गीता का क्या मत है ?

मै—आज समय बहुत हो गया है, कल यदि आप लोगों को अवकाश हो तो मुक्ति के विषय मे गीता के मत का वर्णन करूँगा।

सब मित्र—अच्छा कह कर चले गये।

———

मुक्ति

चौथे दिन सभी मित्र फिर उसी समय एकत्र हुए और चर्चा होने लगी।

पहिला मित्र—आप कहते हो कि अपनी योग्यता के कर्त्तव्य कर्म करना ही धर्म है, तो फिर मनुष्य को मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति कैसे होगी, जो कि सब का अंतिम लक्ष्य और परम पुरुषार्थ है? जब तक सांसारिक व्यवहारों से उपराम होकर या सन्यास लेकर प्रकृति और उसके कार्य-जगत से पीछा न छुड़ा ले तब तक जीव मुक्त नहीं हो सकता। सदा कर्मों ही में लगे रहने से उनसे उत्पन्न होने वाले बन्धनों से कभी छुटकारा ही नहीं होता।

मैं—यह सांख्य दर्शन वालों का मत है जो द्वैत मानते हैं। यानी पुरुष और प्रकृति को मूल में ही अलग-अलग और स्वतंत्र मानते हैं, और पुरुष यानी जीवात्मा भी अनेक मानते हैं। उनका सिद्धान्त है कि पुरुष या जीवात्मा प्रकृति का सङ्ग करके बँधता है और जब प्रकृति का साथ छोड़कर अकेला हो जाता है तब "कैवल्य" मोक्ष को प्राप्त होता है। इसलिये वे जगत के व्यवहार छोड़कर अलग होने से ही मुक्ति मानते हैं। परन्तु अद्वैत-वेदांत-दर्शन द्वैत नहीं मानता। वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति, पुरुष या आत्मा से अलग नहीं है किंतु आत्मा की स्फुरण शक्ति या संकल्प ही प्रकृति है। इसलिये प्रकृति और उसके

कार्य-जगत से अलग होना न तो संभव है और न सांसारिक व्यवहार सर्वथा छोड़कर संन्यास ले लेने से मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति होना वह मानता है। गीता में कहा है :—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ ३-४॥

अर्थ—कर्म का आरम्भ न करने से ही मनुष्य निष्कर्मी नहीं हो जाता; और न सन्यास ले लेने ही से सिद्धि मिलती है (श्रेय-साधन होता है) (३-४)।

और इसके बाद ही के श्लोकों में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि कर्म किये बिना कोई कभी रह ही नहीं सकता। इसलिए मन को वश में रखते हुए कर्म करते रहना चाहिए।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वं प्रकृतिजैर्गुणैः॥ ३-५॥
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसास्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ ३-६॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः सविशिष्यते॥ ३-७॥

अर्थ—क्योंकि कर्म किये विना क्षण भर भी कोई रह नहीं सकता; प्राकृतिक अर्थात् अपने-अपने स्वाभाविक गुणों से विवश होकर सबको (सदा कुछ न कुछ) कर्म, करना ही पड़ता है (३-५)। जो मूर्ख कर्मेन्द्रियों (हाथ, पैर आदि) को रोक कर, मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता हुआ बैठा

रहता है, वह मिथ्याचारी (दंभी) कहा जाता है (३-६)। परन्तु हे अर्जुन! जो इंद्रियों का मन से नियंत्रण करके अनासक्ति से कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्म-योग का आरंभ करता है, अर्थात् सब की एकता के साम्य-भाव से जगत के व्यवहार करता है—वही श्रेष्ठ है (३-७)।

फिर १८ वें अध्याय में कर्म-त्याग के सात्विक, राजस और तामस भेद कहे हैं; वहाँ कर्तव्य-कर्मों को मोहवश या दुख रूप समझकर त्यागने को तामस वा राजस त्याग कहा है और फलासक्ति से रहित होकर कर्तव्यकर्म करते रहने को सात्विक त्याग कहा है।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥ १८-७॥
दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥ १८-८॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥ १८-९॥
न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥ १८-१०॥
नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥ १८-११॥

अर्थ:—नियत कर्म का संन्यास करना उचित नहीं है; मोह से उसका त्याग करना तामस त्याग कहा जाता है (१८-७)

"(कर्म करना) दुःख रूप ही है" ऐसा समझकर, शारीरिक कष्ट के भय से जो कर्म त्याग देता है—वह राजस त्याग करने वाला त्याग के फल को नहीं पाता (१८-८)। हे अर्जुन ! (कर्म) करना ही कर्तव्य है ऐसा समझकर, जो नियत कर्म आसक्ति और फल को त्यागकर किया जाता है—वह सात्विक त्याग माना गया है (१८-६)। बुद्धिमान्, संशयरहित, सत्व-गुणयुक्त, त्यागी पुरुष अर्थात् नवमें श्लोक के अनुसार सात्विक त्याग करनेवाला व्यक्ति, अकुशल अर्थात दोषयुक्त, अथवा निकृष्ट माने जानेवाले कर्म से द्वेष नहीं करता, और कुशल अर्थात् निर्दोष अथवा श्रेष्ठ माने जानेवाले कर्म मे आसक्ति नहीं रखता (१८-१०)। क्योंकि (कोई भी) देहधारी कर्मों का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता, अतएव जिसने कर्मफल का त्याग किया है—वही त्यागी कहा जाता है (१८-११)।

पहलामित्र—जब कर्म करना अनिवार्य है तो फिर मुक्ति तो हो ही नहीं सकती, क्योंकि कर्म सब बंधन रूप होते हैं।

मैं—सब कर्म बन्धन रूप नहीं होते क्योंकि कर्म जड हैं। उनमें स्वतः चेतन को बाँधने की शक्ति नहीं होती। बन्धन, कर्ता के भाव से होता है। जो कर्म-दूसरों से अलग व्यक्तित्व के अहंकार से और दूसरों से पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लिए किये जाते हैं उन्हीं से बन्धन होता है; किन्तु जो स्वाभाविक कर्तव्य-कर्म लोकसंग्रह यानी समाज की सुव्यवस्था के लिये कर्मों के स्वामी भाव से किये जाते हैं उनसे कोई बन्धन नहीं

होता। इसलिए दूसरों के साथ अपनी एकता के साम्य-भाव से कर्म करने को गीता में कर्म कौशल कहा है, यानी कर्म करने में कुशलता या कर्मों पर आधिपत्य कहा है और इस तरह निष्काम कर्म करने से दुःख या बन्धन से रहित पद की प्राप्ति होना बताया है।

बुद्धि युक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥ २-५०॥
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ता पदं गच्छन्त्यनामयम्॥ २-५१॥

अर्थः—जिसकी आत्मनिष्ठ (समत्व) बुद्धि होती है, वह इस लोक में पाप और पुण्य दोनों से अलग अर्थात् अलिप्त रहता है, इस कारण तू (सर्वभूतात्मैक्य-साम्य भाव रूप) योग में स्थित होकर व्यवहार कर; क्योंकि (सर्वभूतात्मैक्य साम्य-भाव रूप) योग ही कर्म-कौशल (कर्मों पर आधिपत्य) है (२-५०)।

साम्य—बुद्धि युक्त व्यवहार करनेवाले ज्ञानी पुरुष, कर्मों के अच्छे-बुरे फल से परे होकर, तथा जन्म-मरण आदि बन्धनों से मुक्त होकर, (आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक) दुखों से रहित पद को प्राप्त हो जाते हैं (२-५१)।

पहिला मित्र—यहाँ पुण्य से अलिप्त रहने को कहा है सो तो ठीक है पर पाप से अलिप्त कैसे रहा जाता है? बुरे कर्मों का पाप तो अवश्य भोगना चाहिए।

में:—कर्मों के अच्छेपन या बुरेपन का स्थूल भौतिक दृष्टि से, उनके ऊपरी रूपों को देखने ही से यथार्थ निश्चय नहीं हो सकता। इस प्रश्न का निर्णय करने के लिए सूक्ष्म आध्यात्मिक विचार की आवश्यकता है। चौथे अध्याय में इस विषय की पूरी छान-बीन की गई है। इस रहस्य को वही महापुरुष ठीक-ठीक जानता है जो विश्व की कल्पित भिन्नता में सच्ची एकता का अनुभव करता है।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥४-१६॥
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥४-१७॥
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥४-१८॥

अर्थ—कर्म (का स्वरूप) क्या है और अकर्म (का स्वरूप) क्या है, इस विषय में बड़े-बड़े बुद्धिमान् पंडित भी भ्रम में पड़े हुए हैं। मैं तुझे वह कर्म (का-रहस्य) बतलाऊँगा जिसे जानकर तू अशुभ से छूट जायगा अर्थात् तेरा मोह दूर हो जायगा। कर्म (साधारणतया कर्म का व्यापक स्वरूप) अवश्य जानना चाहिए; विकर्म (न करने योग्य—निषिद्ध अथवा त्याज्य कर्म का स्वरूप) भी जानना चाहिए; और अकर्म (कर्म से सर्वथा रहित होने अर्थात् कर्म शून्यता का स्वरूप) भी जानना चाहिए क्योंकि कर्म की गति गहन है। जो कर्म में

अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है, अर्थात् जो कर्म-रूप जगत् की निरन्तर परिवर्तनशील झूठी भिन्नता में अकर्म-रूप सच्चा एकत्व-भाव (सर्वत्र एक आत्म-तत्त्व—अपने आप) का अनुभव करता है; और अकर्म रूप सत्य, नित्य, अपरिवर्तनशील एकत्व-भाव (एक आत्म-तत्त्व—अपने आप) में कर्म-रूप विश्व की कल्पित एवं परिवर्तनशील भिन्नता का बनाव देखता है—इस तरह जो कर्म-अकर्म में अभेद देखता है—वही मनुष्यों में बुद्धिमान है और वही समत्वयोगी सम्पूर्ण कर्मों का कर्ता (कर्मों का स्वामी, है।

दूसरा मित्र—कर्म मे अकर्म और अकर्म में कर्म देखने की बात बराबर समझ में नहीं आई । इस विषय का जरा विस्तार करके खुलासा करिये ।

मैं—इन श्लोकों का खुलासा यह है कि मनुष्यों की कौन-सी चेष्टाएँ कर्म रूप हैं, जिनके अच्छे-बुरे फल (शुभाशुभ परिणाम) में मनुष्य बँधता है; और कौन-सी चेष्टाएँ अकर्म रूप हैं जिनसे मनुष्य कर्म के शुभाशुभ परिणाम से मुक्त रहता है—इस विषय को अर्थात् कर्मों में फँसने और उनसे मुक्त होने के असली रहस्य को आत्मज्ञान के बिना, केवल सासारिक विषयों में निपुण, बुद्धिमान् एवं शास्त्रज्ञ पंडित लोग भी यथार्थतया नहीं जानते। बहुत से लोग तो सांसारिक (गृहस्थी के) व्यवहार करने मात्र ही को बन्धन रूप कर्म समझते हैं—चाहे वे व्यवहार शुभ हों या अशुभ, विहित हों या निषिद्ध, चाहे वे पूर्व-कथित चातुर्वर्ण्य-

व्यवस्थानुसार लोक संग्रह के लिए किए जायँ या व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए, और चाहे वे व्यक्तित्व के भाव सहित किये जायँ, या व्यक्तित्व का अहंकार छोड़कर; और उक्त चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थानुसार सब सांसारिक (गृहस्थी के) व्यवहार छोड़-छाड़कर संन्यास धारण कर लेने, अथवा उद्यमहीन होकर ध्यान में निमग्न हो जाने, अथवा समाधि लगाने, अथवा भजन, स्मरण आदि ईश्वर आराधना में निरंतर लगे रहने आदि को अकर्म अर्थात् कर्मों से रहित होना मानते हैं। परन्तु यह समझ ठीक नहीं किन्तु भ्रामक है। भगवान, अर्जुन को कहते हैं कि तू भी उसी भ्रम में पड़कर गुण-कर्म विभाग के सिद्धान्तानुसार अपने हिस्से में आए हुए कर्तव्य-कर्म (क्षात्र-धर्म) को बन्धनरूप कर्म समझकर उसे छोड़कर अकर्मी बनने के मोह में पड़ा हुआ है, इसलिए मैं तुझे कर्म का असली तत्त्व बताता हूँ जिसे जानने से तेरा यह दुःखदायी मोह दूर हो जायगा। यह विश्व सब कर्म-रूप है और सब के कर्मों का प्रभाव एक दूसरे पर पड़ता है, इसलिए कर्मों की गति अर्थात् कर्मों का पसारा, प्रभाव और पहुँच अत्यन्त ही गहरी अर्थात् जगत में सूक्ष्म रूप से अत्यन्त व्यापक है। अतः कर्म और अकर्म के रहस्य को यथार्थतया जानने के लिए, पहले कर्म के साधारण एवं व्यापक रूप को अच्छी तरह समझना चाहिए। फिर जिस विधि से कर्म करने से बन्धन होता है, उस निषिद्ध अर्थात् न करने योग्य (त्याज्य) कर्म, जिसको विकर्म कहते हैं,

उसका स्वरूप जानना चाहिए; और जिस विधि से कर्म करने से कुछ भी बन्धन नहीं होता उस अकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए। संसार कर्ममय होने के कारण कुछ न कुछ करना प्रत्येक देह-धारी का स्वाभाविक धर्म है, परन्तु किस अवस्था में किस प्रकार से की हुई चेष्टाएँ, बन्धन करनेवाले निषिद्ध कर्म अथवा (न करने योग्य) विकर्म रूप होती हैं, और किस अवस्था में किस प्रकार से की हुई चेष्टाएँ, अकर्म (कुछ भी न करने यानी निष्कर्म) रूप हो जाती हैं—इस रहस्य को जानना प्रत्येक कार्यकर्ता के लिए अत्यंत आवश्यक है। भेदवाद के शास्त्रों के विद्वान लोग इस मर्म को समझ नहीं सकते, कि भिन्नता को सच्ची मानने के मिथ्या-ज्ञान युक्त किये हुए कर्म, चाहे बाहरी स्थूल दृष्टि से विहित अथवा शुभ अथवा कुशल प्रतीत हों तो भी वे निषिद्ध अथवा अशुभ विकर्म रूप होते हैं। इसी तरह भिन्नता के मिथ्या-ज्ञान युक्त, शरीरों के गुणों की योग्यता के स्वाभाविक एवं आवश्यक कर्त्तव्य-कर्मों का त्याग भी विकर्म-रूप हो जाता है। यह है अकर्म में कर्म देखना। और सर्वत्र एकता को सच्ची मानने के सत्य-ज्ञान से किये हुए सब प्रकार के कर्म, चाहे बाहरी स्थूल दृष्टि से बंधन रूप अथवा निषिद्ध एवं अशुभ अथवा अकुशल विकर्म रूप प्रतीत होते हों तो भी वास्तव में वे निर्बन्धन अकर्म रूप ही होते हैं। यह है कर्म में अकर्म देखना। इस रहस्य को वही महापुरुष ठीक-ठीक जानता है जो विश्व की कल्पित भिन्नता में सच्ची एकता का अनुभव करता है। अस्तु जो कर्म आत्म-ज्ञान

के साम्य-भाव से किये जाते हैं, वे स्थूल भौतिक दृष्टि से बुरे या पाप रूप दीखते हों तो भी वास्तव में वे पापरूप या बन्धन कारी नहीं होते।

यस्य सर्वे समारंभा:काम संकल्प वर्जिता: ।
ज्ञानाग्नि दग्ध कर्माणं तमाहु: पण्डितं बुधा: ॥ ४-१९ ॥
त्यक्त्वा कर्म फलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रय: ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति स: ॥ ४ २० ॥
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रह: ।
शारीरं केवल कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥ ४ २१ ॥
यदृच्छालाभसतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सर: ।
सम: सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ ४-२२ ॥
गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतस: ।
यज्ञायाचरत: कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ ४-२३ ॥

अर्थ:—जिसके सभी व्यवहार अपनी पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना के संकल्प से रहित होते हैं अर्थात् जिसके मन में दूसरों से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि का भाव ही उत्पन्न नहीं होता, और सर्वत्र एकत्व-भाव के आत्म-ज्ञान रूपी अग्नि से जिसके कर्म भस्म हो गये हैं, अर्थात् शुभाशुभ फल से शून्य अत: बन्धन रहित हो गये हैं, बुद्धिमान लोग उसी को सच्चा विद्वान् कहते हैं (४-१९)। कर्मों के फल में आसक्ति न रखकर अर्थात् केवल अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि ही का भाव न रखकर' (अपने आप में) सदा तृप्त अर्थात् अपने

आपको सदा परिपूर्ण अनुभव करनेवाला, और (अपने से भिन्न किसी अन्य पर) निर्भर न रहनेवाला (स्वावलम्बी पुरुष), कर्मों में अच्छी तरह प्रवृत्त होता हुआ भी (वास्तव में) वह कुछ भी नहीं करता (४-२०)। जो (दूसरों से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की) आशा से रहित है और जिसने मन और बुद्धि को अपने वश में कर लिया है, तथा पदार्थों के संग्रह में जिसका ममत्व छूट गया है, वह (अपने स्वाभाविक गुणों की योग्यतानुसार) केवल शरीर द्वारा अपने कर्तव्य-कर्म करता हुआ भी पाप का भागी नहीं होता (४-२१)। (उपरोक्त रीति से कर्म करने से) जो कुछ सहज ही लाभ हो जाय उसी में संतुष्ट, (हर्ष-शोक, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, सुख-दुख आदि) द्वन्द्वों से परे अर्थात् इनसे ऊपर उठा हुआ, ईर्षा-द्वेष आदि से रहित, और कर्मों की सफलता अथवा असफलता में एक समान निर्विकार रहनेवाला अर्थात् हानि-लाभ, जय-पराजय आदि से विचलित न होनेवाला पुरुष (सब प्रकार के कर्म) करता हुआ भी बन्धन से सर्वथा रहित होता है (४-२२)। सर्वत्र एकत्व-भाव रूपी आत्मज्ञान में स्थित चित्त वाले, आसक्ति रहित मुक्त पुरुष के, यज्ञ (लोक-संग्रह) के निमित्त किये हुए सारे कर्म विलीन हो जाते हैं, अर्थात् अकर्म रूप हो जाते हैं (४ २३ ।

पहिला मित्र:—समाज की सुव्यवस्था के लिए अपने कर्तव्यकर्म साम्यभाव से करने से वे दुःख या बन्धन उत्पन्न

नहीं करते सो तो ठीक है परन्तु मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति कैसे होती है सो बताइये।

मैं—जिस मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति के विषय में आप पूछते हो उसका स्वरूप आप क्या समझते हो?

पहला मित्र—मोक्ष अनेक प्रकार का सुना जाता है। कई लोग कहते हैं कि मरने के बाद ऐसी जगह या ऐसे लोक मे चलेजाना जहाँ सब प्रकार के सुख ही सुख हों, दुख का लेश भी नहीं हो—वही मोक्ष है। कोई कहते हैं कि मरने के बाद कुछ भी शेष न रहना (शून्य हो जाना) मोक्ष है। कई भक्त लोगों का मत है कि मरने के बाद भगवान के पास गोलोक, वैकुण्ठलोक, शिव लोक आदि मे पहुँचकर उसकी शरण में पड़े रहना मोक्ष है। इस तरह नानामतवाले नानाप्रकार की मोक्ष बताते हैं।

मैं—जब मोक्ष के विषय में इतने मतभेद हैं तो पता लगता है कि इसका यथार्थ निश्चय इनमें से किसी को नहीं हुआ। अपनी-अपनी मनगढ़ंत मोक्ष—मरने के बाद होना मान लिया और मरने के बाद कोई पीछा आकर उस मोक्ष के समाचार नहीं कहता, इसलिए किसी को इस विषय का कुछ भी अनुभव या ज्ञान नहीं होता। जिसको जो अच्छा लगा उसी तरह का मोक्ष का स्वरूप गढ़ लिया।

दूसरा मित्र—कई लोग सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य, सारूप्य आदि भेदों से अनेक प्रकार के मोक्ष मानते हैं।

मैं—गीता में इस तरह के विचारहीन मोक्ष के अंधविश्वासों के लिए कोई स्थान नहीं है। न तो मरने के बाद की नाना प्रकार की मुक्ति जो लोग मानते हैं, उन के लिये कोई स्थान है; न मुक्ति के अनेक भेद ही कहे गये हैं।

पहला मित्रः—तो गीता के अनुसार मोक्ष का क्या स्वरूप है।

मैं—मोक्ष या मुक्ति का अर्थ है छुटकारा या स्वतंत्रता। छुटकारा या स्वतंत्रता किसी बन्धन या परतंत्रता से होता है। यानी कोई बन्धन हो तब उससे छुटकारा पाने या कोई परतंत्रता हो तब उससे स्वतंत्र होने का प्रश्न उठता है। इसलिए मोक्ष या मुक्ति का स्वरूप जानने के लिए पहले बन्धन या परतंत्रता का स्वरूप जानना आवश्यक है।

पहला मित्र—ठीक है।

मैं—बन्धन या परतंत्रता उस दशा में होती है जब कि एक से अनेक हों यानी एक बँधनेवाला और दूसरा बाँधनेवाला। एक परतत्र होनेवाला और दूसरा परतंत्र करनेवाला।

पहला मित्र—ठीक है।

मैं—पर गीता तो अद्वैत-वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार वस्तुतः द्वैत मानती ही नहीं, इसलिए बन्धन या परतंत्रता वास्तव में कुछ है नहीं। सब का आत्मा-परमात्मा अपनी स्फुरण शक्ति से संसार के खेल के लिए व्यष्टि भावों की कल्पना करके नाना जीव रूप से व्यक्त होकर जगत् के अनन्त प्रकार के सूक्ष्म और

स्थूल बनाव धारण करता है। उन कल्पित व्यष्टि भावों को स्वीकार करनेवाले जीवात्माएँ अपने वास्तविक समष्टिभाव = परमात्मा से अलग व्यक्तिभावों का अहंकार करके चित्त, मन, बुद्धि, शरीर और शरीर के सम्बन्धी पदार्थों और उपाधियों में आसक्ति कर लेते हैं और उनमे उलझकर अपने को नाना-प्रकार के बन्धनों से बँधे हुए और अपने से भिन्न-ईश्वर आदि अदृष्ट शक्तियों के आधीन व परतन्त्र अनुभव करते है। यही बन्धन या परतंत्रता का स्वरूप है। इस विषय का वर्णन अध्याय ३ श्लोक २७, अध्याय ७ श्लोक ४ से १५ और श्लोक २५ से २७ तक और अध्याय १५ श्लोक ७ से ११ तक में किया गया है।

पहिलामित्र—फिर इन बन्धनों और परतंत्रता से छुटकारा होकर मोक्ष कैसे होता है?

मैं—मेरे कथन से यह तो आप समझ ही गये होंगे कि बन्धन या परतंत्रता अपने ही कल्पना किये हुए मन के भाव हैं। मन के उन भावों को पलट देने से उनसे छुटकारा होकर मुक्ति का अनुभव हो जाता है। इस समय हम लोगों ने स्थूल या सूक्ष्म शरीरों मे जो अपना अहम्-भाव कर रखा है यानी "पंच भूतों का पुतला यह स्थूल शरीर मैं हूँ" अथवा "मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार रूप अंतःकरण मैं हूँ" इस तरह जो पृथक् व्यक्तित्व का अहंकार कर रखा है और इन शरीरों से सम्बन्ध रखनेवाले जो जो पदार्थ या उपाधियाँ हैं उनमें ममता की आसक्ति कर

रखी है, उस व्यक्तित्व के अहंकार और ममता की आसक्ति को छोड़, उनसे ऊपर उठकर अपने वास्तविक स्वरूप यानी सर्वात्म-भाव का दृढ़ निश्चय करके उस समष्टि भाव में स्थिति कर लेने से फिर किसी प्रकार का बन्धन या परतंत्रता नहीं रहती और संसार के व्यवहार करते हुए भी अपने आपके पूर्ण स्वतंत्र या मुक्त होने का अनुभव बना रहता है। यही मोक्ष या निर्वाण है और वह जीवन-मुक्त अवस्था शरीर के रहते ही प्राप्त होती है। मरने की प्रतीक्षा नही करनी पड़ती।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शांतिमधिगच्छति ॥ २-७१ ॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ २-७२ ॥

अर्थः—जो पुरुष सब कामनाओं से रहित होकर एवं व्यक्तित्व के अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थ की लालसा को छोड़ कर वर्तता है, अर्थात् जगत् के व्यवहार करता है, उसे ही शांति मिलती है (२-७१)। हे पार्थ ! यही ब्राह्मी अर्थात ब्रह्मभाव की स्थिति है, इसे प्राप्त होकर मनुष्य मोह मे नहीं फँसता; और अंतकाल में भी इसमें स्थित होकर ब्रह्म-निर्वाण पद को प्राप्त होता है (२ ७२)

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ४-३६ ॥

अर्थः—श्रद्धावान् और तत्परता से लगनेवाला जितेंद्रिय पुरुष ज्ञान को पाता है, और ज्ञान को पाते ही उसी क्षण परमशांति को प्राप्त होता है (४ ३६)।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बंधात्प्रमुच्यते ॥ ५-३ ॥

अर्थः—जो न द्वेष करता है और न आकांक्षा (अभिलाषा) रखता है, उसे नित्य संन्यासी समझना चाहिए, अर्थात् वही सच्चा संन्यासी है, क्योंकि हे महाबाहो! द्वंद्वों से रहित हुआ वह सहज ही बन्धन से छूट जाता है (५-३)।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥ ५-६ ॥

अर्थः—परन्तु हे महाबाहो! कर्म-योग के बिना अर्थात् साम्यभाव से घर-गृहस्थी के व्यवहार किए बिना संन्यास की प्राप्ति बहुत ही दुःख से होती है अर्थात् अत्यन्त कठिन है; कर्म-योग में लगा हुआ मुनि (विचारशील मनुष्य) तुरन्त ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है (५ ६)।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ ५-१९ ॥
न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नो द्विजेत्प्राप्य चा प्रियम्।
स्थिर बुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥ ५-२० ॥
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ ५-२१ ॥

अर्थः—जिनका मन (उक्त) समता के एकत्व-भाव में स्थित हो जाता है, वे संसार को यहीं (इसी शरीर में) जीत लेते हैं; (और) क्योंकि ब्रह्म ही निर्दोष एवं सम है इसलिए वे ब्रह्म में स्थित रहते हैं (५-१६)। जो प्रिय (पदार्थों) को पाकर विशेष हर्षित नहीं होता और अप्रिय (पदार्थों) को पाकर उद्विग्न नहीं होता, वह स्थिर-बुद्धिवाला मोहरहित ब्रह्मवेत्ता (समत्वयोगी) ब्रह्म में स्थित है। (पदार्थों और व्यक्तियों के) बाहरी संबंधों में जिसका अन्तःकरण आसक्त नहीं होता, वह अपने अन्तरात्मा में जो सुख है उसे प्राप्त होता है, और वह ब्रह्मभाव में स्थित समत्व-योगी अक्षय सुख अर्थात् नित्यानन्द का अनुभव करता है (५-२०-२१)।

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥ ५-२४॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः। ५-२५॥
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥ ५-२६॥

अर्थ—जो पुरुष (पदार्थों और व्यक्तियों की कल्पित अनेकता के बाहरी रूपों में आसक्ति न रखकर सब की भीतरी एकता रूपी) अन्तरात्मा में सुख का अनुभव करता है, (सबके भीतरी एकत्व-भाव रूपी) अन्तरात्मा में आराम पाता है और जो (सबके भीतरी एकत्व-भाव-रूपी) अन्तरात्मा ही से प्रकाशित हो रहा

है, यानी सबमें एक आत्मा ही के प्रकाश अथवा चमत्कार का अनुभव करता है, वह ब्रह्मरूप समत्व योगी ब्रह्म निर्वाण पद मे स्थित हो जाता है, यानी वह समत्वयोगी द्वन्द्वातीत ब्रह्म-स्वरूप होता है (५-२४)। जिनका द्वैतभाव निवृत्त हो गया है और अन्तःकरण को जिनने अपने वश में कर लिया है, वे सब भूतप्राणियों के हित में लगे रहनेवाले निष्पाप ऋषि लोग ब्रह्म-निर्वाण पद को पाते हैं (५-२५)। जिनका काम क्रोध निवृत्त हो गया है तथा जिनने चित्त को वश में कर लिया है, ऐसे आत्मज्ञानी यतियों के ब्रह्मनिर्वाण पद नितांत ही निकट रहता है (५-२६)।

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छा भयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥ ५-२८॥

अर्थ—इन्द्रिय मन और बुद्धि को जिसने अपने वश मे कर लिया है, और जिसने इच्छा, भय तथा क्रोध को निवृत्त कर दिया है, वह मोक्षपरायण मुनि सदा मुक्त ही है (५-२८)।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ १०-३॥

अर्थ—जो मुझ (आत्मा अथवा परमात्मा) को अज अर्थात् जन्म से रहित, अनादि अर्थात् आरंभ से रहित और सब लोकों का महान् ईश्वर जानता है, वह मनुष्य मोह से रहित (होकर) सब पापों से मुक्त हो जाता है (१०-३)।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥ १३.१८॥

अर्थ—इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान और ज्ञेय संक्षेप से कहे हैं; मेरा भक्त इन्हें जानकर मेरे भाव को प्राप्त होता है (१३-१८)।

यदा भूत पृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।

तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यतेतदा ॥ १३-३० ॥

अर्थ—जब भूतों के पृथकता के भावों को एकत्व भाव में स्थित देखता है, और उस एकत्व भाव ही से जगत् की अनन्त प्रकार की भिन्नता का विस्तार देखता है, तब ब्रह्म स्वरूप होता है (१३-३०)।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञान चक्षुषा।

भूत प्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ १३-३४ ॥

अर्थ—जो इस तरह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तर को, और भूतों के समुदाय रूप जगत के कारण—प्रकृति की असत्यतारूप मोक्ष को, ज्ञान-रूपी चक्षु से याथा-तथ्य जान लेते हैं, वे परमात्मा को पाते हैं (१४-३४)।

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ॥

गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भाव सोधिगच्छति ॥ १४-१९ ॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।

जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ १४-२० ॥

अर्थ—जब द्रष्टा पुरुष गुणों के सिवाय और किसी को कर्ता नहीं देखता, और (अपने आप=आत्मा को) गुणों से परे जानता है, तब वह मेरे भाव को प्राप्त होता है (१४-१६)। देह

की उत्पत्ति करानेवाले इन तीन गुणों से अतीत होने पर देही अर्थात् पुरुष जन्म, मृत्यु और बुढ़ापे के दुःखों से मुक्त होकर, अमृत अर्थात् अक्षय आनन्द को प्राप्त होता है (१४-२०)।

निर्मानमोहा जित सङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्त कामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुख-दुख सञ्ज्ञैर्गच्छन्त्यमूढ़ाः
यदमव्ययं तत् ॥ १५ ५ ॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यग्द्त्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परममम ॥ १५-६ ॥

अर्थ—जो मान और मोह से रहित हैं, जिन्होंने सङ्ग दोष को जीत लिया है, जो निरंतर अध्यात्म विचार मे लगे रहते हैं, जिनकी कामनायें सर्वथा निवृत्त हो गई हैं, और सुख-दुःख संज्ञा वाले द्वन्द्वों से जो मुक्त हैं, वे ज्ञानी पुरुष उस अव्यय पद को पहुँचते हैं (१५-५)। उस पद को न सूर्य प्रकाशित करता है, न चंद्रमा और न अग्नि ही; जहाँ जाने पर फिर लौटना नहीं पड़ता वह मेरा परम धाम है (१५-६)।

इति गुह्यतम शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमानस्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ १५-२० ॥

अर्थ—इस प्रकार- हे अनघ। मैने यह गुह्यतम अर्थात् अत्यन्त रहस्यमय शास्त्र कहा है; हे भारत! इसे समझकर बुद्धि मान् पुरुष कृतकृत्य होता है (१५-२०)।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शांतो ब्रह्म भूयाय कल्पते ॥ १८-५३ ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ १८-५४ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो माँ तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ १८-५५ ॥

अर्थ—अहंकार, दुराग्रह, घमण्ड, काम, क्रोध और परिग्रह को त्यागकर ममता से रहित, शान्त पुरुष ब्रह्म-स्वरूप होने के योग्य होता है (१८-५३)।

ब्रह्मभाव को प्राप्त हुआ प्रसन्न अंतःकरण वाला मनुष्य न शोक करता है, न आकांक्षा करता है, (और) सब भूतों में सम होकर सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप मेरी परा भक्ति को पाता है, अर्थात् भक्त और भगवान् का भेद मिटाकर आत्म स्वरूप हो जाता है (१८-५४)। 'मैं' (सबका आत्मा) जो कुछ हूँ और जैसा हूँ, भक्ति के द्वारा (वह) मुझको तत्त्वतः जान लेता है; इस प्रकार मुझे यथार्थ रूप से जान लेने पर तुरन्त (मुझमें) समा जाता है (१८-५५)।

तीसरा मित्र—जो जीव मुक्त या निर्वाण हो जाता है वह तो ब्रह्म में लय हो जाता है। फिर वह शरीर में कैसे जीवित रह सकता है ?

मैं—लय होने का यह तात्पर्य नहीं है कि उसका अस्तित्व ही नही रहता। यदि ऐसा होता तो मुक्ति क्या हुई अपने अस्तित्व के अनुभव की ही समाप्ति हो गई।

तीसरा मित्र—कहा जाता है कि जीव, ब्रह्म मे उसी तरह लय होता है जिस तरह बूँद समुद्र मे मिल जाती है।

मैं—जीव ब्रह्म से कभी अलग हुआ ही नहीं तब मिलेगा कौन किससे। बूँद समुद्र से बाहर निकली ही नहीं तो फिर मिलने का प्रश्न ही कैसा? समुद्र अनन्त बूँदों का ही तो केन्द्र है। ब्रह्म और जीव के लिए समुद्र और तरंग का दृष्टान्त विशेष नजदीक पड़ता है। तरंग समुद्र से भिन्न नहीं होती इसी तरह ब्रह्म से जीव वास्तव मे भिन्न नहीं होता। परन्तु देहाभिमान यानी पृथक् व्यक्तित्व के अहंकार से जब वह अपने को भिन्न मानता है व परमात्मा और जगत् को अलग मानता है तब बन्धन का अनुभव करता है। फिर जब आत्मज्ञान होने पर शरीर और व्यक्तित्व के अहंकार को मिथ्या या कल्पित समझकर अपने वास्तविक स्वरूप परमात्म-भाव का अनुभव कर लेता है तब मुक्त या निर्वाण कहाता है क्योंकि उस स्थिति का वाणी से वर्णन नहीं हो सकता केवल अनुभवगम्य है। उसके लिए न तो कहीं जाना होता है, न किसी में मिलना, केवल अपने भ्रांत भाव को पलटकर ठीक करना होता है। बनना-बनाना कुछ नहीं है, न कुछ मिटाना है, क्योंकि वस्तुतः अन्यथा कुछ बना ही नहीं था। जिस तरह हम लोग यदि अपनी भारतीय वेश-भूषा या भाषा के बदले अँग्रेजी

वेश-भूषा करके अँग्रेजी बोलते हैं तो हमारा भारतीयपन नष्ट नहीं होता, हमारा रंग नही बदल जाता और भारतीय होने के लिए अँग्रेजी पोशाक उतार फेंकने और अँगरेजी बोलना बन्द करने की आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि वास्तव में हमारी भारतीयता ज्यों की त्यों बनी हुई रहती है। इसी तरह अपने वास्तविक मुक्त स्वरूप के अनुभव के लिए शरीर छोड़ने या मरने की आवश्यकता नहीं रहती।

तीसरा मित्र—तो फिर लय होने का क्या तात्पर्य है ?

मैं—यही कि अपने व्यष्टि अहंकार के बदले समष्टि भाव का अटल अनुभव करना। जिस तरह इस देश की सैकड़ों रियासतें, जो केन्द्र से अपने को अलग मानकर छोटी-छोटी तंग सीमाओं के बन्धनों में सिकुड़ी हुई थी, उन सबका सरदार वल्लभ भाई पटेल के प्रयत्न से केन्द्र (Centre) में लय (merger) हो गया, परन्तु उससे रियासतों के लोगों, नगरों, गाँवों या भूमि आदि का अस्तित्व नहीं मिट गया; न उनको अपने-अपने स्थानों से समेटकर नई दिल्ली में प्रविष्ट कर दिया गया किन्तु सभी अपने-अपने स्थान पर ज्यों के त्यों है और अन्य प्रान्तों की तरह उनका अपना-अपना राज्य प्रबन्ध भी हो रहा है। केवल उनका पृथकृता का भाव मिटकर सब एक ही भारतीय संघ के अंग माने जाने लगे हैं। उसी तरह व्यष्टि-भाव का समष्टि में लय होना है। व्यष्टि के सब व्यवहार शरीर से यथायोग्य होते हुए भी समष्टि भाव की स्थिति अंतःकरण में बनी रहती है। व्यष्टि भाव

समष्टि के अन्तर्गत रहता है। जिस तरह लहरे समुद्र रूप बनने के लिए मिट नहीं जाती किन्तु उसी तरह चलती रहती है। लहरे चलती हुई भी वास्तव में समुद्र ही है। लहरों की संकुचित दृष्टि के बदले समुद्र की व्यापक दृष्टि करने मात्र की आवश्यकता है। उसी तरह व्यष्टि-भाव से सब व्यवहार करते हुए भी जीवन-मुक्त महापुरुष का समष्टि-भाव का अनुभव बना रहता है।

तीसरा मित्र—तो क्या जीवनमुक्त पुरुष शरीर से सब प्रकार के सांसारिक व्यवहार करता हुआ भी मुक्त ही रहता है। शरीर के सुखदुःख, रोग और पीड़ा आदि उसको बाधा नही देते ?

मैं—हाँ ! गीता का यही मत है कि यद्यपि आत्मज्ञानी जीवन-मुक्त महापुरुष को, पृथक् व्यक्तित्व का अहकार नहीं रहने के कारण उसे अपने लिये कुछ भी करने का प्रयोजन नहीं रहता परन्तु वह संसार के सब व्यवहार लोक संग्रह यानी अपने समष्टि भाव के संसार रूपी खेल की सुव्यवस्था के लिये पूर्ण स्वतंत्रता पूर्वक स्वामी भाव से करता है और इनमें आसक्ति नहीं रखने के कारण अलिप्त रहता है; वे उसको कुछ भी बाधा नहीं देते।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानव. ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ ३-१७ ॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
च चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ ३-१८ ॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ ३-१९ ॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ ३-२० ॥
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ ३-२१ ॥
न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ ३-२२ ॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ३-२३ ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ ३-२४ ॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ ३ २५ ॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ ३-२६ ॥

अर्थ—परन्तु जो मनुष्य केवल आत्मा में ही रत और आत्मा ही में तृप्त एवं आत्मा ही मे सतुष्ट रहता है, अर्थात् जिसको सर्वत्र एक आत्मा यानी एकत्व भाव का अनुभव हो जाता है, उसके लिये (कोई) कार्य (अवश्य-कर्तव्य) नहीं रहता। न तो संसार में कुछ करने से ही उसका कोई प्रयोजन होता है और न नहीं करने से ही; तथा सम्पूर्ण भूत प्राणियों से उसका व्यक्तिगत

स्वार्थ कुछ भी नहीं रहता (३-१७-१८)। इसलिए तू दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के भाव की आसक्ति से रहित होकर (सब के साथ एकता के साम्य-भाव से) अपने स्वाभाविक गुणों की योग्यतानुसार अपने कर्तव्य-कर्म सदैव अच्छी तरह तत्परता से करता रह; क्योंकि व्यक्तित्व के भाव की आसक्ति से रहित होकर कर्म करनेवाला मनुष्य परमात्म-भाव में स्थित होता है (३-१९)। जनक आदि (अनेक ज्ञानी पुरुष इस प्रकार) कर्म करते हुये ही (आत्मानुभव रूपी) परमसिद्धि मे स्थित रहे हैं, अर्थात् सर्वात्म-भाव से जगत के व्यवहार करते रहे हैं; अतः लोक संग्रह की दृष्टि से अर्थात् जगत और समाज की सुभव्यवस्था के लिए तुझे भी कर्म करना ही योग्य है (३-२०)। श्रेष्ठ पुरुष जो कुछ करता है, दूसरे साधारण मनुष्य भी उसी के अनुसार किया करते हैं; (श्रेष्ठ पुरुष) जिसे प्रमाण (मानकर) करता है, (दूसरे) लोग उसी का अनुकरण करते हैं (३-२१)। हे पार्थ ! मेरे लिये तीनों लोकों में कुछ भी कर्तव्य नहीं है, और न मुझे कोई अप्राप्त वस्तु ही प्राप्त करनी है, तो भी मैं कर्म करता ही रहता हूँ (३-२२)। क्योंकि यदि मैं कभी तत्परता से कर्म न करूँ, तो हे पार्थ ! लोग सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करने लग जायँ, अर्थात् सब लोग काम करना छोड़ दें (३-२३)। (अतः) यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सारे लोक नष्ट हो जायँ, और वर्णसंकरता उत्पन्न करनेवाला तथा इन प्रजाओं को बिगाड़नेवाला मैं ही होऊँ (३-२४) हे भारत !

अज्ञानी लोग (पृथक् व्यक्तित्व के भाव की) आसक्तिपूर्वक (पराधीनता से) जिस तरह कर्म किया करते हैं, ज्ञानी पुरुष व्यक्तित्व की आसक्ति के बिना, लोक-संग्रह अर्थात् जगत अथवा समाज की सुव्यवस्था की इच्छा से, (स्वाधीनता पूर्वक) उसी तरह कर्म करे (३-२५)। विद्वान् पुरुष (स्वयं कर्म करना छोड कर), कर्मों में प्रीति रखनेवाले अज्ञानियों की बुद्धि में भेद अर्थात् विपर्यास उत्पन्न न करे, किन्तु (स्वयं सब के साथ अपनी एकता के साम्यभाव से) युक्त होकर (सब प्रकार के कर्म) अच्छी तरह तत्परतापूर्वक करता हुआ उनको भी सारे कर्मों में लगावे (३-२६)।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ५-७ ॥
नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥ ५-८ ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ५-९ ॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ ५-१० ॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ५-११ ॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शांतिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ ५-१२ ॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ ५-१३ ॥

अर्थ—सब की एकता के साम्य-भाव में जुडा हुआ, (एवं दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहकार से रहित) शुद्ध अन्तःकरणवाला, मन पर विजय प्राप्त, इन्द्रयजीत पुरुष सब भूतों का आत्म-भूत—आत्मा होता है, अर्थात् अपने आप को सारे जगत् मे और सारे जगत को अपने में अनुभव करता है, (अतः वह जगत् के सब प्रकार के व्यवहार) करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता (४-७) । उपरोक्त समत्वयोग मे जुडा हुआ तत्त्व-ज्ञानी पुरुष देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, खाता हुआ, चलता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, छोड़ता अथवा देता हुआ, ग्रहण करता अथवा लेता हुआ, ऑखे खोलता और मूँदता हुआ भी यही मानता है कि मै कुछ भी नहीं करता, इंद्रियाँ इन्द्रियों के अर्थों मे वर्त रही हैं, यही धारणा रखता है (४-८।६) । कर्मों को ब्रह्म में अर्पण करके अर्थात् कर्मो को सब के अपने आप—आत्मा से अभिन्न समझकर, उन मे सङ्ग अर्थात् कर्ता और कर्म की पृथक्ता की आसक्ति से रहित होकर जो (उन्हें) करता है, वह पापों से उसी तरह अलिप्त रहता है जिस तरह कमल का पत्ता जल से (४-१०) । समत्वयोगी लोग सङ्ग अर्थात् व्यक्तित्व की आसक्ति से रहित होकर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए, शरीर से, मन से, बुद्धि से अथवा केवल इंद्रियों से भी कर्म किया करते

है (४-१०) । युक्त अर्थात् सब के साथ अपनी एकता के साम्य-भाव में स्थित कर्मयोगी कर्मफल को त्यागकर नैष्ठिकी अर्थात् अटल शांति को प्राप्त होता है, (परन्तु) अयुक्त अर्थात जो एकता के साम्यभाव मे स्थित नहीं हुआ है वह अज्ञानी पुरुष कामना करके फल मे आसक्त हुआ बन्धायमान होता है (४-२२) । नियामक देही, अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार एवं इन्द्रियादि सब का प्रेरक एवं सब को धारण करनेवाला, सब का स्वामी—आत्मा, सब कर्मों का मन से सन्यास करके, न कुछ करता हुआ और न कुछ कराता हुआ, (दो आँखे, दो कान, दो नासिकायें, एक मुख और दो मलमूत्र त्यागने के के द्वार, इस तरह) नव द्वारों के (शरीर रूपी) नगर में सुख से रहता है (४-१३) ।

सर्वकर्माण्यपिसदा कुर्वाणो मद्व्यपश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥॥१८-५६॥

अर्थ—(सब के आत्मा-स्वरूप) मेरे आश्रय में रहकर अर्थात् आत्मा—परमात्मा की एकता के निश्चय के आधार पर सब कर्मों को करता हुआ भी (मनुष्य) मेरी अर्थात सब के आत्मा—सब के वास्तविक आपकी प्रसन्नता से अव्यय और शाश्वत पद को प्राप्त होता है (१८-५६) ।

पहिला मित्र—अध्याय ८ श्लोक २१ और अ० १५ श्लोक ६ में कहा है कि जहाँ जाकर पीछा नहीं लौटते वह मेरा परमधाम है। इस से तो मालूम होता है कि ज्ञानी पुरुष मरने के बाद

मोक्ष होकर भगवान् के लोक में चला जाता है। फिर वहाँ से कभी मनुष्य लोक में पीछा नहीं आता।

मैं—गीता में धाम, पद, स्थान या सिद्धि आदि को प्राप्त होने का उल्लेख जहाँ-जहाँ आया है वहाँ किसी लोक या स्थान या मकान या पद या चमत्कारिक सिद्धियों के प्राप्तहोने का तात्पर्य नहीं है। क्योंकि परमात्मा किसी लोक या किसी स्थान या मकान मेंसीमा बद्ध नहीं रहता, न किसी विशेष पदपर आरूढ़ रहता है। न वह योगकी सिद्धियाँ या जादू के चमत्कार दिखाता है। उसका कोई धाम या स्थान या पद या पेशा नहीं होता। मेरे धाम, परमपद, शाश्वत स्थान या परमसिद्धि प्राप्त होने का तात्पर्य परमात्म भाव की स्थिति के प्राप्त होने का है और पीछा न लौटने का जो कहा है उसका तात्पर्य उस स्थिति में बने रहने का है, यानी प्राप्त की हुई उस सर्वात्मभाव की स्थिति से नीचे नहीं गिरने का है। यदि "न निवर्तन्ते" (पीछा नहीं लौटते) का यही तात्पर्य होता कि किसी ऐसे स्थान मे जाकर रुक जाता है या समा जाता है कि वहाँ से निकलकर कहीं आ जा ही नहीं सकता तो फिर मुक्ति या स्वतन्त्रता कैसी हुई, उल्टा जेलखाना हो गया, जहाँ से कोई कैदी बाहर आ ही नहीं सकता। आत्मज्ञानी महापुरुष को ऐसे बन्दी ग्रह में डालने का भगवान् नहीं कह सकते थे।

दूसरा मित्र—तो क्या आपके मत में मुक्त आत्मा जन्म मरण के चक्कर में पड़ा हुआ संसार में आता-जाता रहता है?

मैं—जब वह पूर्णतया मुक्त यानी स्वतन्त्र हो जाता है तो जहाँ चाहे तहाँ आवे जावे या न आवे जावे उसकी खुशी है। उसको रोकनेवाला कौन है।

दूसरा मित्र—पर गीता में ही तो कई जगह कहा है कि मुझे प्राप्त होकर पुनर्जन्म में नहीं आता।

मैं—इसका यही तात्पर्य है कि कर्मों के आधीन होकर कर्मों से बँधा हुआ परतंत्रता से जन्म-मरण के चक्कर में नहीं पड़ता; परन्तु अपनी स्वतंत्र इच्छा से वह जो चाहे सो कर सकता है और जैसा रूप धारण करना चाहे वैसा करता है। न तो उसको कुछ करने की परवशता है, न, नहीं करने की। एक सम्राट अपने साम्राज्य में जहाँ चाहे वहाँ जा सकता है और जो चाहे वह कर सकता है। उसको न तो कोई कहीं जाने को या कुछ करने को विवश कर सकता है और न कोई रोक सकता है क्योंकि वह पूर्ण स्वतन्त्र होता है। राजा जेलखाने के सुप्रबन्ध के लिए वहाँ भी जाता है परन्तु दोषी को कैदियों की तरह अपने अपराधों के फल भोगने के लिये नहीं जाता और न वह अपने लिये कैद होने का अनुभव ही करता है। उसी तरह जीवन-मुक्त महापुरुष शरीर छोड़ने के बाद जब इच्छा करता है तब किसी रूप में या किसी शरीर में प्रकट होकर संसार की सुव्यवस्था के कार्य करता है और वैसा करने में उसको कोई बन्धन या कष्ट प्रतीत नहीं होता। स्वयं भगवान् कृष्ण भी लोगों की सुव्यवस्था के लिए अनेक बार जन्म लेकर शरीर धारण करने और संसार के व्य-

वहार स्वतंत्रता पूर्वक स्वामी भाव से करने का गीता मे कहते हैं और जब कि जीवन मुक्त महापुरुष भगवान् के भाव को प्राप्त हो जाता है या भगवान् रूप बन जाता है तो वह भी उसी तरह कर सकता है उसको कोई वाधा नहीं रह सकती।

तीसरा मित्र—पर जब जन्मता, मरता और शरीर धारण करता है तो जन्म, मरण, शरीर सम्बधी रोगादिक और बुढ़ापे आदि के कष्ट तो होते ही होंगे।

मैं—मुक्तात्माओं का जन्मना मरना और शरीर धारण करके संसार के व्यवहार करना साधारण लोगों की तरह कर्मों के फल भोगने के लिए या कर्मों के वन्धनों में बँधे हुए परवशता से नहीं होते क्योंकि उनके अपने कोई कर्म जन्म देने के लिये शेष रहते ही नहीं और न उनको शरीरो और न उनके द्वारा किये जानेवाले कर्मों में आसक्ति या अहंकार रहता है। इसलिए उनका मरना जन्मना या शरीरों के व्यवहार करना हम लोगों की तरह वन्धन रूप, कष्ट दायक अथवा बोझ रूप प्रतीत नहीं होते किन्तु उन्हें अपना विनोद प्रतीत होता है। वे शरीरों और जगत को अपने अंदर अनुभव करते हैं। अपने को शरीरों और जगत के अदर रुका हुआ अनुभव नहीं करते। जिस तरह नाटक के खेल में स्वांग करनेवाले खिलाड़ी लोग नाना प्रकार के स्वांग अपनी खुशी से करते हैं। स्वांग धारण करने या वदलने या उतारने या स्वाग के व्यवहार करने मे उनको कोई कष्ट या वन्धन प्रतीत नहीं होता किन्तु विनोद या प्रसन्नता होती है उसी

तरह मुक्त आत्मा अपने संसार रूपी खेल में अपनी खुशी से अनेक रूप धारण करके विनोद करते हैं। गीता में भगवान् ने कहा है कि—

जन्म कर्म च मे दिव्यमवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ४-९ ॥
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ ४-१० ॥

अर्थ—मेरे दिव्य जन्म और कर्म के रहस्य को जो इस प्रकार तत्त्व से जानता है, वह शरीर छोड़ने के बाद फिर जन्म नहीं लेता, किंतु मुझमें मिल जाता है (४-९)। बहुत से लोग मेरे (सर्वात्मा=परमात्मा के) साथ तन्मय होकर अर्थात् मनको सबके अपने आप=आत्मा में जोड़कर, मेरे आश्रय से अर्थात् आत्मविश्वास से राग, भय और क्रोध से रहित होकर एव आत्मज्ञान रूपी तप से पवित्र होकर मेरे भाव में आ मिले हैं (४-१०)।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्त मूर्तिना।
मत्स्थानि सर्व भूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ९-४ ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूत भृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूत भावनाः ॥ ९-५ ॥

अर्थ—मेरे अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों के अगोचर (अध्यात्म) भाव से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा है; सब भूत मुझ मे

स्थित यानी ठहरे हुए हैं, (परन्तु) मैं उनमें अवस्थित नहीं हूँ अर्थात् उनमें रुका हुआ, उनमें परिमित अथवा उनके आश्रित नहीं हूँ। और (ये) भूत भी (वस्तुतः) मुझमें स्थित नहीं हैं; मेरा ईश्वरीय (अलौकिक) योग अर्थात् अद्भुत माया शक्ति का कौशल देख (कि) मेरा आत्मा (सबका अपना आप) भूतों को उत्पन्न और धारण करता हुआ भी भूतों में स्थित नहीं है, अर्थात् उनमें रुका हुआ अथवा उन पर निर्भर नहीं है (६-४-५)

सर्वात्मा परमात्मा ही तो अपनी इच्छा से स्वयं जगत् के अनेक रूप धारण करता हुआ शरीर दृष्टि से जन्मता मरता और सब कर्म करता है पर उसे कोई दुःख या बन्धन आदि नहीं होते क्योंकि सुख-दुःख, बंधन-मोक्ष, जन्म-मरण आदि सारे द्वन्द्व उसी के भीतर होते हैं। सबकी एकता होने से किसी एक भाव का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता किन्तु एक दूसरे से मिल-कर शांत हो जाते हैं। जब मुक्तात्मा की सर्वात्म-परमात्म भाव में स्थिति हो जाती है तब उसको भी कोई दुःख या बधन सासा-रिक व्यवहारों में नहीं होता। उसके अंतःकरण की स्थिति समष्टि भाव में रहती है और व्यष्टि भाव से संसार के व्यवहार होते है। अपनी जीवनमुक्त अवस्था के सत्-चित्-आनंद स्वरूप का अनुभव भी तो सांसारिक व्यवहार करने में ही होता है और व्यवहार करते हुए भी पूर्ण शांति बनी रहती है।

तीसरा मित्र—गीता के अनुसार मुक्ति की जो व्याख्या आपने की है वह बड़ी ही विचार-क्रांति उत्पन्न करनेवाली और हृदयग्राही है। मुक्ति के इस स्वरूप को मानने में किसी भी विचार शील व्यक्ति को आपत्ति नहीं हो सकती और बड़े से बड़ा तार्किक मुक्ति की इस धारणा में कोई दोष नहीं निकाल सकता। वास्तव में सच्ची मुक्ति तो वही हो सकती है जिसका अनुभव जीवन-काल में ही हो जाय और मनुष्य जीते जी ही सब प्रकार की सुख-शांति का अनुभव करने लगे। साम्प्रदायिक लोगों के माने हुए नाना प्रकार के मुक्ति के भेद स्वतंत्र विचार की कसौटी पर टिक ही नहीं सकते। इस विषय का समाधान आपने बहुत ही संतोषपूर्ण रीति से कर दिया और धार्मिक क्रांति का स्वरूप ठीक जँच गया। अब आप बाकी की तीन प्रकार की क्रांतियों के विषय मे गीता के मतव्य कहिये।

मैं—आज समय थोड़ा है। कल पर रखिये।

तीसरा मित्र—बहुत अच्छा।

सामाजिक और आर्थिक क्रांति

पाँचवें दिन फिर उसी समय सब एकत्र हुए और चर्चा चलने लगी।

पहिला मित्र—अब गीता की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का वर्णन कीजिए।

मैं—किसी भी सभ्यसमाज की सुव्यवस्था के लिए साधारण रूप से चार प्रकार की प्रधान आवश्यकताएँ रहती हैं (१) शिक्षा, (२) रक्षा, (३) जीवन की आवश्यक सामग्रियों की प्राप्ति और (४) उन सामग्रियों को उत्पन्न करने और समाज की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, शारीरिक श्रम। इन चार प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हमारे पूर्वजों ने मनुष्यों के स्वाभाविक गुणों की योग्यता के आधार पर, मुख्यतया चार प्रकार के कर्तव्य कर्म, यानी पेशे अथवा व्यवसाय नियत किए थे, जो चतुर्वर्ण व्यवस्था कही जाती है। यह व्यवस्था मनुष्य शरीर के अंगों के आदर्श पर बनाई गई थी। सत्व-गुण की प्रधानतावाले मनुष्यों मे बुद्धि का विकास विशेष रूप से होता है, इसलिए उनके लिए समाज को शिक्षा देने का काम नियत किया गया। रजोगुण की प्रधानता, सत्वगुण की समता और तमोगुण की न्यूनतावाले मनुष्यों में बल और बुद्धि की विशेषता होने के कारण

उनके लिए समाज की रक्षा का काम नियत किया गया। रजोगुण को प्रधानता, तमोगुण की समानता और सत्वगुण की न्यूनतावाले मनुष्यों में क्रियाशीलता की प्रधानता रहती है, इसलिए उनके लिए पदार्थों की पूर्ति करने का व्यवसाय नियत किया गया। और तमोगुण की प्रधाननावाले मनुष्यों में बुद्धि का विकास कम होता है, स्थूल शरीर से परिश्रम करने की विशेष योग्यता होती है; इसलिए उनके लिए शारीरिक श्रम के पेशे नियत किये गये।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिःस्यात्त्रिभिर्गुणैः॥ १८-४० ॥
ब्राह्मण क्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ १८-४१
शमोदमस्तपः शौचं क्षांतिरार्जवमेव च
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ १८-४२ ॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धेचाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ १८-४३ ॥
कृषि गौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ १८-४४ ॥
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥ १८-४५ ॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ १८-४६ ॥

अर्थ—पृथ्वी पर, आकाश में अथवा देवों में भी ऐसा कोई सत्व अर्थात् पदार्थ नहीं है, जो कि प्रकृति के इन तीन गुणों से रहित हो। तात्पर्य यह है कि विश्व में स्थूल और सूक्ष्म जितने भी पदार्थ हैं, वे सब त्रिगुणात्मक हैं, अर्थात् सारा विश्व त्रिगुणात्मक प्रकृति का बनाव है—तीन गुणों से रहित कुछ भी नहीं है (१८-४०)। हे परन्तप ! ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों के कर्म उनके स्वाभाविक गुणों के अनुसार बँटे हुए हैं। तात्पर्य यह है कि समाज की सुव्यवस्था के लिए तीनों गुणों की कमी-बेशी के भेद के कारण मनुष्यों के जो अलग-अलग स्वभाव होते हैं, उनके अनुसार उनके चार विभाग किये गए हैं, जिनकी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र संज्ञा रखी गई है, और उनके अलग-अलग गुणों के अनुसार, उनके लिए अलग-अलग कर्तव्य-कर्म यानी पेशे अथवा व्यवसाय नियत किये गए हैं (१८-४१)। शम अर्थात् मन का संयम; दम अर्थात् इन्द्रियों का निग्रह; तप अर्थात् सत्रहवें अध्याय मे वर्णित शरीर, वाणी और मन का सात्विक तप यानी शिष्टाचार; शौच अर्थात् भीतरी और बाहरी पवित्रता; क्षांति अर्थात् क्षमाशीलता; आर्जव अर्थात् सरलता; ज्ञान अर्थात् अध्यात्मज्ञान; विज्ञान अर्थात् सांसारिक पदार्थों का तात्विक विज्ञान; और आस्तिकता अर्थात् आत्मा अथवा परमात्मा में विश्वास—ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म है। तात्पर्य यह है कि जिन मनुष्यों के शरीर मे सत्वगुण की प्रधानता, रजोगुण की समानता और तमोगुण की न्यूनता होती है, उनकी स्वभाव से ही

सांसारिक पदार्थों एवं विषयों में आसक्ति कम होती है, और वे श्रेष्ठाचारी, पवित्र, क्षमाशील, सरल स्वभाववाले एवं आत्म-विश्वासी होते हैं, और आत्मा-परमात्मा की एकता के ज्ञान और सांसारिक पदार्थों के विज्ञान में वे कुशल होते हैं। इस-लिए उनमें शिक्षा सम्बन्धी कामों की विशेष योग्यता होती है; अतः सदाचार युक्त, ज्ञान (अध्यात्म-विद्या) और विज्ञान (भौतिक पदार्थ विद्या) की शिक्षा, प्रचार एवं नाना प्रकार के आविष्कार करने के द्वारा तथा उक्त ज्ञान-विज्ञान की उन्नति करने द्वारा, लोक सेवा करनेवाले ब्राह्मण वर्ण का कर्म उनके लिए नियत किया गया है (१८-४२)। शूरवीरता, तेजस्विता, धैर्य, कार्यकुशलता अथवा नीतिनिपुणता, युद्ध में पीछे न हटना, दान देने की प्रवृत्ति और ईश्वर-भाव, अर्थात् सब के आत्मा-ईश्वर की तरह सब की एकता के प्रेम और साम्य-भाव से न्याय पूर्वक प्रजा का रक्षण और शासन करना—छत्रिय का स्वाभाविक कर्म है। तात्पर्य यह है कि जिन मनुष्यों के शरीर में रजोगुण की प्रधानता, सत्वगुण की समानता और तमोगुण की न्यूनता होती है, उनमें स्वभाव ही से शक्ति, साहस, निर्भीकता आदि गुणों की विशेषता होने के कारण वे शूरवीर, तेजस्वी, धैर्यवान्, नीतिनिपुण, कार्यकुशल, युद्ध से न घबड़ानेवाले, त्याग करने में उदार, और सब की एकताके साम्य भाव से प्रेम और न्याय-पूर्वक प्रजा का रक्षण और उस पर शासन करके समाज की सुव्यवस्था रखने योग्य होते हैं; इसलिए जनता की रक्षा एवं उस पर शासन

कर के समाज को सुव्यवस्थित रखने की लोक सेवा करनेवाले क्षत्रिय वर्ण का कर्म उनके लिए नियत किया गया है (१८-४३)। खेती, गौपालन और व्यापार, वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं; और शारीरिक श्रम करना शूद्र का स्वाभाविक कर्म है। तात्पर्य यह कि जिन मनुष्यों के शरीर मे रजोगुण की प्रधानता, तमोगुण की समानता एवं सत्वगुण की न्यूनता होती है, उनमे खेती करने, पशुओं का पालन करने, तथा उद्योग धन्धों और वाणिज्य व्यापार आदि द्वारा, जन-समाज के जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक पदार्थ उत्पन्न करके उनका व्यसाय करने की स्वाभाविक योग्यता होती है; इसलिए लोगों के जीवन के उपयोगी पदार्थों की पूर्ति करने की लोक सेवा करनेवाले वैश्य वर्ण का कर्म उनके लिए नियत किया गया है। और जिन मनुष्यों के शरीर में तमोगुण की प्रधानता, रजोगुण की समानता और सत्वगुण की न्यूनता होती है, उनमें शारीरिक श्रम द्वारा सेवा करने की स्वाभाविक योग्यता होती है; इसलिए कारीगरी, मजदूरी आदि शारीरिक श्रम की लोक सेवा करनेवाले शूद्र वर्ण का कर्म उनके लिए नियत किया गया है (१८ ४४)। अपने-अपने कर्मों मे अच्छी तरह लगा हुआ मनुष्य सब प्रकार की सिद्धि प्राप्त करता है; अपने कर्मों में लगे रहने से जिस तरह सिद्धि प्राप्त होती है सो सुन। जिससे संसार की प्रवृत्ति हो रही है, और जिससे यह सम्पूर्ण विश्व व्याप्त हो रहा है, उस (सब के आत्मा—परमात्मा) का अपने कर्मों द्वारा पूजन करने से

मनुष्य सिद्धि को प्राप्त होता है, अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार की उन्नति करता हुआ स्वयं परमात्म स्वरूप हो जाता है। तात्पर्य यह कि सबका आत्मा = परमात्मा अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृति अथवा इच्छा शक्ति से प्रवृत्ति-रूप होकर जगत् का सब खेल करता है, अतः यह जगत् प्रवृत्ति अथवा कर्म रूप है; और सब भूत-प्राणी सब के आत्मा = परमात्मा से अभिन्न होते हैं, इस कारण अपनी-अपनी योग्यता के कर्म करना सब के लिए आवश्यक ही नहीं किन्तु अनिवार्य है। सब के अपने-अपने कर्म करने से ही जगत् रूपी खेल का सम्पादन ठीक-ठीक हो सकता है। इस लिए प्रत्येक व्यष्टि-भावापन्न शरीरधारी को अपने समष्टिभाव के इस खेल की सुव्यवस्था के लिए अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य कर्म करने द्वारा अपने समष्टि भाव से सहयोग करने रूप उसका पूजन अवश्य करना चाहिये। अपने-अपने कर्तव्य कर्म करके आपस में एक दूसरे की आवश्यकताएँ पूरी करने की लोक-सेवा-रूप यज्ञ करने से ही सब के समष्टि भाव = परमात्मा का पूजन होता है, और इसी पूजन से व्यष्टि भावापन्न जीवात्मा अपनी सर्वाङ्गीण उन्नति करता हुआ, सब प्रकार के भेद मिटाकर, अपने समष्टि (परमात्मा) भाव का अनुभव करने रूप परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है (१८-४५-४६)

यह व्यवस्था इतनी स्वाभाविक, वैज्ञानिक और सुन्दर थी कि प्रायः सभी सभ्य समाजों में रूपान्तर से यह प्रचलित है।

विशेष करके इस देश के लोगों की परिस्थिति के तो पूर्णतया उपयुक्त थी और इस व्यवस्था के अनुसार यथावत् पेशे या व्यवसाय करने से प्रत्येक व्यक्ति और सारे समाज की सब प्रकार की सुव्यवस्था ही नहीं बनी रहती थी किन्तु उत्तरोत्तर उन्नति होती थी। इसीलिए भगवान् ने इसकी बहुत प्रशंसा की है। यद्यपि गीता में मोटे रूप से समाज के चार मुख्य कार्य-विभागों की व्यवस्था कही है, परन्तु इन चारों में से प्रत्येक विभाग के बहुत से उपविभाग यानी काम करने के पेशों का इनमे समावेश है; जिनसे जनता की नाना प्रकार की आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। जिस तरह शिक्षक वर्ग में भिन्न-भिन्न प्रकार की शाखाएँ होती हैं; रक्षक वर्ग में राज्य के अनेक मुल्की और फौजी विभाग होते हैं, व्यापारी वर्ग में अलग-अलग पदार्थों के अलग-अलग व्यवसाय होते हैं और श्रमी वर्ग में जुदी-जुदी प्रकार की कारीगरी, हस्तकौशल और मजदूरी के पेशे होते हैं। फिर इनमें भी व्यक्तियों की अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार छोटे-मोटे अगणित भेद होते हैं।

पहला मित्र—बहुत से लोग कहते हैं कि वर्ण-व्यवस्था जन्म के आधार पर है और कई कहते हैं कि कर्म के आधार पर है। इनमें से कौन-सी बात ठीक है?

मैं—वर्णव्यवस्था न कोरे जन्म के आधार पर है न कोरे कर्म के आधार पर। यदि ऐसा होता तो न तो वह स्वाभाविक होती न वैज्ञानिक। ब्राह्मण का पेशा करनेवाले कुल में जन्मे

हुए व्यक्ति में यदि ब्राह्मणोचित गुण न हों तो वह शिक्षक वर्ग का काम कैसे कर सकेगा। ऐसे ही क्षत्रिय का पेशा करनेवाले कुल में जन्मे हुए व्यक्ति में यदि क्षत्रियोचित गुण न हों तो वह रक्षा का काम नहीं कर सकेगा। वैश्य और शूद्र के पेशे करने वालों के घर में जन्मे हुए व्यक्तियों में उनके योग्य गुण न हों तो वे उन वर्गों के कामों को कदापि नहीं कर सकते। इसी तरह गुणों की योग्यता के बिना यदि कोई व्यक्ति अपनी खुशी से कोई पेशा करने लगे तो ठीक नहीं कर सकेगा और समाज की सुव्यवस्था नहीं रह सकेगी। भगवान् इस तरह की अस्वाभाविक और अव्यवहारिक व्यवस्था का विधान गीता में कैसे कर सकते थे। वहाँ तो गुणों के अनुसार ही कार्य-विभाग किया गया है। हाँ, यह बात अवश्य है कि पिता-माता के गुण बालक में आने की विशेष संभावना रहती है।

पहला मित्र—बालक के जन्मते ही उसके गुणों की परीक्षा नहीं हो सकती। फिर उसके वर्ण का निर्णय कैसे हो ?

मैं—वर्ण व्यवस्था तो कार्य-विभाग है, और जो पेशा या व्यवसाय मनुष्य करता है उसी के अनुसार उसका वर्ण होता है। जब कि बालक में काम करने की योग्यता ही नहीं होती तो उसके वर्ण का प्रश्न ही नहीं उठता। जब वह जवान होकर काम करने लायक हो, तब उसके गुणों की परीक्षा होकर जिस पेशे या व्यवसाय के काम की उसकी योग्यता हो वही उसका वर्ण होगा।

दूसरा मित्र—परीक्षा करे कौन ?

मैं—या तो राज या समाज। जिस तरह इस समय डाक्टरी इंजीनियरी, वकालत, विज्ञान, व्यापार आदि नाना प्रकार की शिक्षा की परीक्षाएँ होकर प्रमाणपत्र दिये जाते हैं उसी तरह काम करने की योग्यता की परीक्षाएँ होकर प्रमाण-पत्र दिये जा सकते हैं।

पहिला मित्र—जब तक उसकी परीक्षा होकर वर्ण नियत न हो तब तक वह बालक किस वर्ण का होगा ?

मैं—अपने बाप के वर्ण का। क्योंकि बालक-अवस्था में उसका स्वतंत्र अस्तित्व ही नही होता और माता-पिता के गुण बालक में विशेष रूप से आने की संभावना भी रहती है, यह मैं पहले कह आया हूँ।

दूसरा मित्र—जब स्वाभाविक गुणों के अनुसार कार्य-विभाग है तो स्वाभाविक गुण तो जन्म के साथ ही होते हैं। फिर जन्म के आधार पर ही वर्ण क्यों नहीं माने जावे ?

मैं—बालक में माता-पिता के सारे गुण आ जावे यह आवश्यक नहीं है। बहुत से बालक माता-पिता के विपरीत गुणोंवाले भी देखे जाते हैं। इसके अतिरिक्त शरीर के जन्म के साथ जो गुण होते हैं, बड़े होने पर वे ही ज्यों के त्यों बने रहें, यह भी निश्चित नहीं। इसलिए जिस समय जिस शरीर मे जो गुण हों वे ही उसके स्वाभाविक गुण होते हैं।

तीसरा मित्र—आप वर्ण ही वर्ण का बार-बार जिक्र करते है, जाति के विषय मे तो आपने कुछ कहा ही नहीं।

मैं—गीता में भगवान् के उपदेशों में जाति शब्द कहीं आया ही नहीं। पहले अध्याय में अर्जुन ने एकबार जाति धर्म का नाम लिया है, जिसको भगवान् ने दूसरे अध्याय के दूसरे श्लोक में, श्रेष्ठ आर्यों के अयोग्य मोह कहकर काट दिया। गीता में जाति पाँति के बंधनों को कोई स्थान नहीं दिया गया है बल्कि उनको तोड़ फेंका है।

तीसरा मित्र—तो फिर हिन्दू-समाज में जाति-पाँति के इतने भेद कैसे पैदा हो गए?

मैं—गुणों की घटा-बढ़ी के चक्कर में जब किसी समाज में सत्वगुण दबकर तमोगुण बहुत बढ़ जाता है तब तामसी बुद्धि के लोग उलटे मार्ग पर चलने लग जाते हैं। अपनी विपरीत समझ से सत्-शास्त्रों का विपरीत अर्थ करके साम्प्रदायिकता और जाति-पाँति के नाना भेद और रीति-रिवाजों के अनेक प्रकार के बन्धन आप ही अपने लिए उत्पन्न करके घोर कष्ट पाते हैं और अपना भयानक पतन आप ही करते हैं। महाभारत काल में इसी कारण देश की दुर्दशा हुई थी, जिसको सुधारने के लिए भगवान् कृष्ण ने अवतार लेकर क्रांति की और इस समय भी जाति-पाँति के अवर्णनीय अत्याचारों के कारण हिन्दू-समाज की जो भयानक दुर्दशा होकर देश में घोर अशान्ति फैल रही

है, जिसको गीता का आदर्श लेकर सामाजिक क्रांति करने से ही मिटाया जा सकता है। दूसरा कोई उपाय नहीं है।

तीसरा मित्र—गीता की सामाजिक क्रांति का क्या स्वरूप है ?

मैं—यही कि सब प्रकार के भेद-भाव मिटाकर मनुष्य (स्त्री-पुरुष) मात्र को एक ही आत्मा या परमात्मा के अनेक रूप समझते हुए, सबसे प्रेम करना, किसी से द्वेष न करना, मनुष्य के साथ मनुष्योचित व्यवहार करना, किसी का तिरस्कार न करना। प्रत्येक व्यक्ति के जन्म-सिद्ध अधिकारों का आदर करना और किसी पर अत्याचार न करना। किसी को नीचा, हीन या पतित मानकर पद दलित न रखना किन्तु सबके साथ समता का भाव रखना और संकीर्णता के सब बन्धन तोड फेंकना।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ ५-१८॥

अर्थ—विद्या और विनय (नम्रता) संपन्न ब्राह्मण में, गौ में, हाथी में और कुत्ते तथा चाण्डाल मे (आत्मज्ञानी) विद्वान् पुरुष समदर्शी होते हैं। तात्पर्य यह है कि सब के साथ अपनी एकता का अनुभव करनेवाले समत्वयोगियों की दृष्टि में विद्वान ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते, चाण्डाल आदि ऊंचे नीचे, मोटे, छोटे पवित्र, मलिन आदि सभी प्राणियों के विषय में सर्व भूतात्मैक्य समता (Sameness) का भाव रहता है, क्योंकि वे जानते हैं कि सबका असली तत्त्व यानी सबका मूल आधार—आत्मा एक है, चेतनता सबमें एक समान है, और जिन पंच भूतों के

सबके शरीर होते हैं वे पंचभूत भी सबमें एक समान हैं; तथा शरीर सभी एक समान विकारी, परिवर्तनशील तथा उत्पत्ति नाशवान् होते हैं; इसलिए तत्त्वतः उनमें कोई भेद नहीं है। भेद केवल तीन गुणों के तारतम्य अर्थात् कमी-वेशी की विचित्रता और उससे उत्पन्न होनेवाले पारस्परिक संबन्धों में होता है, सो वे गुण वैचित्र्य और आपस के सम्बन्ध सदा एक से नहीं रहते, किन्तु निरंतर बदलते रहते हैं। जिस पदार्थ में कभी सत्वगुण की प्रधानता होती है उसीमें कभी रजोगुण अथवा तमोगुण की प्रधानता हो जाती है, और जिसमें कभी रजोगुण अथवा तमोगुण की प्रधानता होती है उसमें कभी सत्वगुण की प्रधानता हो जाती है। दुराचरण से विद्या-सम्पन्न ब्राह्मण भी पतित हो जाता है; रोगग्रसित गौ छूने योग्य भी नहीं रहती; विपत्तिआने पर महाकाय हाथी, चींटी से भी दीन बन जाता है। दूसरी तरफ भैरव का वाहन कुत्ता विशेष अवसरों परपूजनीय होता है, तथा पहरेदार कुत्ते बहुत लोकोपकारी होते हैं; और भगवद्भक्त एवं आत्मज्ञानी चाण्डाल वंदनीय हो जाते हैं। हिन्दू धर्म को छोड़कर अन्य किसी धर्म को स्वीकार कर लेने से ब्राह्मण का ब्राह्मणपन और चाण्डाल का चाण्डालपन नहीं रहता किन्तु सब एकमेक हो जाते हैं। सारांश यह कि गुण वैचित्र्य और आपस के सम्बन्ध, जो बाहरी दृश्यमात्र हैं, उनमें स्थायित्व नहीं होता किन्तु वे बदलते रहते हैं। इसलिए तत्त्वज्ञानी लोग उन बाहरी कल्पित नामों और रूपों की भिन्नताओं की अपेक्षा, उनकी अस-

लियत अर्थात् सबकी एकता, जो सदा एक समान बनी रहती है, उसको अधिक महत्व देते हैं, और सबको एक ही आत्मा (अपने आप) के अनेक रूप समझते हुए, किसी के साथ ईर्षा, द्वेष, घृणा, तिरस्कार एवं छल आदि के दुर्व्यवहार नहीं करते और न किसी को दबाकर उस पर अत्याचार ही करते हैं, किन्तु सबके साथ यथायोग्य समता का वर्ताव करते रहते हैं (५-१८)।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ ६-२६ ॥
अपिचेत्सुदुराचारो भजते मामनन्य भाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितोहिसः ॥ ६-३० ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौंतेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ६-३१ ॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पाप योनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यांति परांगतिम् ॥ ६-३२ ॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ६-३३ ॥

अर्थ—मैं (सबका आत्मा) सब भूतों में समान भाव से व्यापक हूँ, न मुझे कोई द्वेष्य अर्थात् अप्रिय है और न कोई प्रिय; परन्तु जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूँ। तात्पर्य यह कि सबका आत्मा=परमात्मा, मैं, रूप से सबमें समान भाव से व्यापक है, अतः सारा जगत् परमात्मा ही

के अनेक रूप हैं उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। इसलिए उस परमात्मा की किसी विशेष व्यक्ति अथवा विशेष पदार्थ में प्रीति नहीं होती—चाहे वह व्यक्ति कितना ही बड़ा और उच्च कोटि का क्यों न हो, और चाहे वह पदार्थ कितना ही बहूमूल्य एवं मनोहर क्यों न हो; न उस परमात्मा का किसी व्यक्ति अथवा पदार्थ से द्वेष होता है—चाहे वह व्यक्ति कितना ही छोटा और हीन कोटि का क्यों न हो, और चाहे वह पदार्थ कितना ही तुच्छ एवं बुरा क्यों न प्रतीत होता हो—वह परमात्मा सबमें एक समान है। प्रीति (राग) और अप्रीति (द्वेष) मन के विकार हैं, और जिनके अन्तःकरण में भिन्नता के भावों की दृढ़ता होती है, उनमें ये रागद्वेष के विकार बने रहते हैं और वे सबके एकत्व-भाव सब के आत्मा=परमात्मा से विमुख रहते हैं; परन्तु जिनकी बुद्धि में यह निश्चय हो जाता है कि यह चराचर जगत् सब के आत्मा=परमात्मा का ही व्यक्त स्वरूप है, वे सबके साथ एकता का प्रेम करने रूपी परमात्मा की अनन्य-भाव की भक्ति करते हैं, और वे चाहे बडे हों या छोटे, ऊँच हो या नीच, स्त्री हो या पुरुष—किसी भी प्रकार के भेद बिना परमात्मा-पद को प्राप्त हो जाते हैं, यानी सबकी एकता के परमात्म-भाव मे उनकी स्थिति हो जाती है (९ २९)। यद्यपि कोई दुराचारी भी हो, और उपरोक्त अनन्य भाव से मेरी (सबके आत्मा=परमात्मा की) उपासना करता हो, (तो) उसको साधु

यानी सदाचारी ही समझना चाहिए; क्योंकि उसको (सब के आत्मा = परमात्मा की एकता एवं सर्व—व्यापकता का) सच्चा एवं दृढ़ निश्चय होता है, अतः वह तत्काल ही धर्मात्मा होता है, (और वह) स्थायी शांति को प्राप्त होता है; हे कौन्तेय ! यह अच्छी तरह निश्चय रख कि मेरे भक्त का कभी विनाश नहीं होता। तात्पर्य यह कि यदि कोई व्यक्ति बाहरी दृष्टि से अथवा ऊपर से देखने में हिंसा आदि पापाचरण अथवा दूसरे निकृष्ट माने जानेवाले कर्म करने के कारण दुराचारी भी प्रतीत होता हो, परन्तु उसके अंतःकरण में सब के आत्मा = परमात्मा की सर्व व्यापकता यानी सब की एकता का सच्चा एवं दृढ़ निश्चय हो और वह सब के साथ उपरोक्त प्रेम करने रूपी परमात्मा की भक्ति अनन्य-भाव से करता हो तो वास्तव मे वह सज्जन ही है, क्योंकि कर्म अथवा आचरण जड़ होने के कारण अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखते—वे चेतन कर्ता पर निर्भर रहते हैं; इसलिए उनमें अपना अच्छापन या बुरापन नहीं होता। आचरणों का अच्छापन या बुरापन कर्ता के अंतःकरण के भाव पर निर्भर करता है। इसलिए उनका यथार्थ निर्णय केवल ऊपरी दिखाव से नहीं होता, किन्तु कर्ता के भाव से होता है। जो सब की एकता के निश्चय से अपने कर्तव्य कर्म करता है, उसके कर्म चाहे कितने ही नीच अथवा बुरे प्रतीत हों, वास्तव में वे बुरे नहीं होवे, प्रत्युत श्रेष्ठ और अच्छे होते हैं; और उनका करनेवाला वास्तव मे धर्मात्मा ही होता है, एवं उसके

अंतःकरण में सदा शांति विराजमान रहती है। इस तरह सब की एकता के अनन्य-भाव से अपने कर्तव्यकर्म करने रूपी परमात्मा की उपासना करनेवाला कोई दुराचारी नहीं होता, न उसकी दुर्गति ही होती है यह निश्चित तथ्य है (९,३०-३१)।

हे पार्थ! जो पाप-योनि हैं अर्थात् जो पूर्व के पापों के कारण तामस स्वभाववाली (चोर, ठग, डाकू आदि जरायम पेशा) जातियों में जन्म लेनेवाले लोग हैं—वे, और स्त्रियाँ, वैश्य तथा शूद्र, अर्थात् जिनमें रजोगुण और तमोगुण की प्रधानता होती है वे भी, मेरा आश्रय करके अर्थात् उपरोक्त अनन्य भाव से मेरी उपासना करने से परमगति को पाते हैं, तो फिर पुण्यवान् यानी सदाचारी ब्राह्मणों एवं भक्त यानी सबसे प्रेम करनेवाले राज ऋषियों (क्षत्रियों) का कहना ही क्या! अर्थात् सत्व-रज की प्रधानता के कारण जो लोग स्वभाव से ही सदाचारी होते हैं, वे उपरोक्त अनन्यभाव से मेरी उपासना करें तो उनके परमपद प्राप्त होने में सदेह ही क्या हो सकता है? तू इस अनित्य अर्थात् प्रतिक्षण परिवर्तनशील और असुख अर्थात् जन्म, मृत्यु, जरा व्याधि आदि क्लेशों से युक्त, इस लोक यानी मनुष्य देह को पाकर (सब के आत्मा = परमात्मा स्वरूप) मेरा (उपरोक्त अनन्य भाव से) भजन कर।

तात्पर्य यह कि २९ वे श्लोक में भगवान् ने कहा था कि 'मैं' सब का अपना-आप सब का आत्मा = परमात्मा सब में एक समान हूँ, मुझे कोई प्रिय अथवा अप्रिय नहीं है; इस विषय

का खुलासा श्लोक ३० से ३३ तक में किया गया है। एक एवं सम आत्मा अथवा परमात्मा, "मैं" रूप से ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, अच्छे-बुरे, स्त्री-पुरुष, आदि सब में एक समान व्यापक है—उसमें किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं है। भेद केवल भिन्न-भिन्न शरीरों के गुण वैचित्र्य का होता है, और वह गुण वैचित्र्य प्रकृति का कार्य है, अतः उसका प्रभाव शरीर, इन्द्रियों मन, बुद्धि आदि तक ही रहता है—आत्मा पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता; आत्मा तो सदा सम ही बना रहता है। जिनके बुद्धि और मन, शारीरिक भिन्नता के भावों से ऊपर उठकर, सबके एकत्व-भाव = आत्मा अथवा परमात्मा की उपासना में लग जाते हैं, उनके गुण वैचित्र्य से उत्पन्न भेद-भाव आत्मा के एकत्व-भाव में शांत हो जाते है, और वे आत्म-स्वरूप हो जाते हैं। उस आत्म-स्वरूप की प्राप्ति में सब को एक समान अधिकार है, क्योंकि आत्मा सब में एक समान विद्यमान है, यानी सब-कुछ आत्मा ही है—चाहे तमोगुण प्रधान चांडाल का शरीर हो या सत्वगुण-प्रधान ब्राह्मण का, चाहे रजोगुण प्रधान स्त्री का शरीर हो, या रज-सत्व प्रधान क्षत्रिय का, या रज-तम प्रधान वैश्य का या तम प्रधान शूद्र का—सब एक ही आत्मा के अनेक रूप होते हैं। अतः जो भी कोई उपरोक्त अनन्य भाव की आत्मोपासना में लग जाता है, वही शनैः-शनैः उन्नति करता हुआ परम गति को पहुँच जाता है, अर्थात् उसके पृथक् व्यक्तित्व का अथवा शरीर का तुच्छ

अहंकार मिट जाता है और वह सब के आत्मा=परमात्मा के एकत्व-भाव मे स्थित हो जाता है। उपरोक्त ईश्वर-भक्ति अथवा आत्मोपासना के अभ्यास की योग्यता इस मनुष्य-देह में ही है, क्योंकि इसमें बुद्धि का विशेष विकास होने के कारण आत्मा अथवा परमात्मा के यथार्थ स्वरूप के विज्ञान सहित ज्ञान के समझने की योग्यता (इसी मनुष्य शरीर) में ही होती है; परन्तु प्रथम तो मनुष्य शरीर प्राप्त होना बहुत दुर्लभ है—अनेक योनियों से चक्कर काटने के बाद यह (मनुष्य शरीर) कठिनता से प्राप्त होता है; और प्राप्त होने पर भी यह अनित्य और असुख ही है, क्योंकि संसार के अंतर्गत होने से इसकी दशा भी क्षण-क्षण में बदलती रहती है; और यह उत्पत्ति नाशवान भी है; और अज्ञान दशा में नाना प्रकार के कर्मों के परिणाम-स्वरूप बहुत से झंझट और विक्षेप इसमे लगे हुए रहते हैं, जिनसे आत्म-ज्ञान की तरफ प्रवृत्ति होने में बहुत रुकावटें होती हैं। इसलिए भगवान् कहते हैं कि इस दुर्लभ, अनित्य और असुख मनुष्य शरीर को पाकर सब के एकत्व-भाव—सब के आत्मा= परमात्मा की उपरोक्त भक्ति में लगकर, नाना प्रकार के दुखों एवं बन्धनों से छुटकारा पाने का साधन तुरन्त ही कर लेना चाहिए, इस काम में विलम्ब नहीं करना चाहिए, क्योंकि शरीर का एक क्षण का भरोसा नहीं है—न मालूम यह कब छूट जावे, और इसके छूट जाने के बाद फिर मनुष्य शरीर कब प्राप्त हो, इसका भी कोई ठिकाना नहीं है। यह शरीर सब का एक समान

अनित्य और असुख है, इसमें भी नीच-ऊँच, स्त्री-पुरुष का कोई भेद नहीं है, इसलिए अपने उपरोक्त कल्याण का साधन करने में किसी को भी विलम्ब नहीं करना चाहिए (९,३२-३३)।

तीसरा मित्र—इन श्लोकों में स्त्री, वैश्य और शूद्रों से ब्राह्मण क्षत्रियों की विशेषता कही गई है, इससे जाति-भेद सिद्ध होता है।

मैं—इन श्लोकों मे जातिवाचक कोई शब्द नहीं हैं। ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र केवल कार्य विभाग के वर्ण हैं। जाति नहीं। ब्राह्मण और क्षत्रिय मे वैश्य, शूद्र और स्त्रियों की अपेक्षा सत्व-गुण की विशेपता होने के कारण ही इनको उनसे विशेपता दी गई है। जिस पर भी ब्राह्मण के साथ "पुण्या" यानी "पुण्य वान सदाचारी" और क्षत्रिय के लिए "भक्ता राजर्षयः" यानी "सबसे प्रेम करनेवाले" विशेषण लगा दिए हैं।

पहला मित्र—इस चतुर्वर्ण व्यवस्था मे स्त्रियों के लिए तो कोई स्थान ही नहीं है।

मैं—स्त्री, समाज का आधा-बायाँ अंग होता है, इसलिए पुरुष से उसको अलग नहीं रखा गया, मनुष्य शब्द में स्त्री भी सम्मि-लित है। उसका भी तो मनुष्य शरीर ही है।

पहला मित्र—तो स्त्री का कौन-सा वर्ण है?

मैं—जो उसके दाहिने आधे अङ्ग का वर्ण हो, वही बाएँ आधे अङ्ग का है क्योंकि दाहिना अङ्ग प्रधान है। कुमारी अवस्था

में पिता का और विवाहित अवस्था में पति का वर्ण ही उसका वर्ण है।

दूसरा मित्र—गीता में समता पर इतना जोर दिया गया है तो सबका आपस में एक समान व्यवहार कैसे हो सकता है?

मैं—यदि एक समान व्यवहार का गीता में विधान होता तो अलग-अलग वर्णों के अलग-अलग कर्मों की व्यवस्था क्यों की जाती। गीता में समता का तात्पर्य समानता का नहीं है यह मैं पहिले ही कह चुका हूँ। वहाँ समानता का तात्पर्य एकरूपता से है। सबको अपना ही रूप समझते हुए यथा-योग्य व्यवहार करने का विधान है। जो अपने गुणों के कारण जिस योग्य हो उसके साथ उसी तरह का बर्ताव करना ही समता का व्यवहार है। गुणों की योग्यता के प्रतिकूल व्यवहार तो विषमता का व्यवहार होता है। जिस तरह एक ही शरीर के अनेक अङ्ग होते हैं, वे अपने-अपने गुणों की योग्यता के अनुसार आचरण करते हैं और परस्पर में यथा-योग्य व्यवहार करते हुए भी सबको आपस की एकता का अनुभव रहता है; एक दूसरे के सहायक और एक दूसरे से समान भाव से मिले रहते हैं, एक दूसरे के दुःख सुख का अनुभव करते हैं—उसी तरह आपस में समता का व्यवहार करने को भगवान् कहते हैं।

पहला मित्र—गीता के समत्व-योग के अनुसार धन-सम्पत्ति की व्यवस्था किस प्रकार की होगी।

मैं—धन-सम्पत्ति की व्यवस्था पर विचार करने के पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि धन-सम्पत्ति क्या वस्तु है।

तीसरा मित्र—इसमें समझने की कौन-सी बात है। रुपया पैसा-ही तो धन सम्पत्ति है। जिसके पास बहुत रुपये होते हैं वही धनवान् होता है।

मैं—रुपया-पैसा वास्तव में धन-सम्पत्ति नहीं है। रुपया पैसा यानी सिक्का तो धन-सम्पत्ति की अदला-बदली का माध्यम (Medium) है अथवा धन सम्पत्ति के माप का साधन है, जोकि देश की राज सत्ता द्वारा नियत किया जाता है। पुराने समय मे लोगों का जीवन सादा था, आवश्यकताएँ बहुत कम थीं, तब पदार्थों का ही आपस मे अदला-बदला होता था। परन्तु ज्यों-ज्यों लोगों का जीवन स्तर बढ़ता गया, पदार्थों की अदला-बदली असंभव हो गई, तब सुभीते के लिए सिक्के का उपयोग होने लगा। आजकल प्रायः ससार के सारे देशों में कागज़ के नोट ही रुपये पैसे या सिक्के के रूप मे चलते हैं। यदि यही धन होता तो कोई देश गरीब रहता ही नहीं, क्योंकि सभी देशों की सरकारें चाहे जितने कागज़ के नोट छाप देती, जैसे कि लड़ाई के समय यहाँ की सरकार ने अरबों रुपयों के नोट छाप कर उनसे लड़ाई का उपयोगी सामान खरीदा, परन्तु उन रुपयों से देश का धन नहीं बढा।

दूसरा मित्र—क्यों नहीं बढ़ा। लड़ाई के जमाने में लोगों ने इतना धन कमाया कि हजारों करोड़पति हो गये और लखपतियों की तो कोई गिनती ही नहीं रही।

मैं—देश की ४०-५० करोड़ जनसंख्या में यदि कई हजार या कई लाख आदमियों ने सिक्के ज्यादा एकत्र कर लिए तो उससे देश मे धन नहीं बढ़ गया? यदि धन बढ़ता तो देश में मँहगाई और मुद्राप्रसार (Infeatioh) की इतनी त्राहि त्राहि नहीं मचती और जनता को इतना घोर कष्ट नहीं होता।

पहला मित्र—तो आप बताइए कि धन-सम्पति क्या है?

मैं—लोगों के जीवन के लिए आवश्यक और उपयोगी पदार्थ, और उन पदार्थों को उत्पन्न और उपलब्ध करने का पुरुषार्थ यानी उद्योग ही सच्ची धन-सम्पत्ति है। इसीलिए इसकी "अर्थ" संज्ञा है।

तीसरा मित्र—पदार्थ तो रुपये-पैसे से खरीदे जाते हैं। जिसके पास रुपया हो वह चाहे जितने पदार्थ खरीद सकता है।

मैं—पर यदि वे पदार्थ पैदा ही न हों और उन्हे कोई तैयार करके खरीदनेवालों को पहुँचावे ही नहीं, तो रुपया-पैसा पड़ा ही रहे; जीवन के आवश्यक पदार्थ तो प्राप्त नहीं हो सकेंगे। फिर रुपये-पैसे या सिक्के का मूल्य ही क्या रहेगा। इसके अतिरिक्त सरकार जब चाहे, सिक्के की कीमत घटा सकती है या सिक्के को रद्द कर सकती है, जैसा कि कुछ समय पहले १००) रुपयों से ऊपर

के नोटों के लिए अँग्रेज सरकार ने किया था। फिर उस सिक्के या रुपये पैसे की कोई कीमत नहीं रहती और उससे जीवन की आवश्यक वस्तुएँ कुछ भी नहीं मिलतीं। आमतौर से लोग यह बड़ी भूल करते हैं कि सिक्के या रुपये-पैसे को ही धन-सम्पत्ति मानते हैं और यही कारण है कि थोड़े से आदमी अपने हथकंडों से बहुत से रुपये-पैसे एकत्र करके धन-सम्पत्ति यानी पदार्थों पर अपना कब्जा कर लेते हैं और देश में घोर आर्थिक संकट पैदा करते हैं। यदि सिक्के को केवल पदार्थों की अदला-बदली और मूल्य के माप करने के साधन तक ही परिमित रखा जावे तो आर्थिक संकट सहज ही मिट सकता है।

पहला मित्र—आपका यह कहना तो बिल्कुल ठीक है कि काग़ज़ का सिक्का वास्तव में धन-सम्पत्ति नहीं है; पर सोना चाँदी आदि कीमती धातु और उनके बने हुए सिक्के तो अवश्य ही धन-सम्पत्ति हैं।

मैं—सोना-चाँदी आदि धातु जिस हद तक समाज के जीवन के लिए आवश्यक और उपयोगी होते हैं, उस हद तक वे अवश्य ही धन-सम्पत्ति है; जिस तरह, पृथ्वी से निकालेजानेवाले मिट्टी, पत्थर, लोहा आदि अन्य खनिज पदार्थ अपने-अपने उपयोग के अनुसार धन-सम्पत्ति हैं, उसी तरह सोना चाँदी आदि भी हैं; परन्तु उपयोग के बिना निरर्थक संग्रह किया हुआ सोना-चाँदी आदि वास्तव में धन नहीं है। गीता के अध्याय ६ श्लोक ८ और अ० १४ श्लोक २४ में तो यही कहा गया है

कि समत्वयोगी मिट्टी, पत्थर और सोने को एक समान समझता है।

तीसरा मित्र—यह कैसे संभव है? मिट्टी और पत्थर की कुछ भी कीमत नहीं किन्तु सोने-चाँदी की तो बहुत कीमत होती है।

मैं—सोना-चाँदी बहुत कम मात्रा में मिलते हैं और उनको जमीन से खोदकर तैयार करने में बहुत परिश्रम पड़ता है, इसके अतिरिक्त वे देखने मे सुन्दर, चमकदार और बहुत टिकाऊ होते हैं। इसलिए पैसेवाले लोग इनके आभूषण आदि बनवाकर पहिनते हैं और संग्रह करके रखते हैं। इन्हीं गुणों के कारण सरकारें इनको सिक्के के काम में लेती है। यही कारण है कि इनकी कीमत ज्यादा है। मिट्टी और पत्थर बहुत बड़ी मात्रा में सहज ही प्राप्त हो जाते है। इनके प्राप्त होने में परिश्रम बहुत कम पडता है इसलिए इनकी कीमत बहुत थोड़ी है; परन्तु उपयोग की दृष्टि से दोनों समान है। मिट्टी और पत्थर का काम सोना नहीं देता और सोने का काम मिट्टी और पत्थर नही देते। मकान बनाने के लिए मिट्टी और पत्थर ही काम देते हैं और सोने-चाँदी से उनकी आवश्यकता व उपयोग बहुत ज्यादा है। लड़ाई के समय में जब बम गिरने का भय हुआ तब सोने आदि अधिक कीमती पदार्थों को बचाने के लिए मिट्टी के ढेर ही काम आये।

तीसरा मित्र—पर सोने-चाँदी से कितनी ही मिट्टी और पत्थर खरीदे जा सकते हैं।

मैं—समाज की आर्थिक व्यवस्था ही ऐसी है कि जिन लोगों के पास अधिक सिक्के एकत्र किये हुवे होते हैं वे विशेष पदार्थों को अधिक सिक्कों के मूल्य से खरीद करके संग्रह कर लेते हैं और उनकी कीमत बेहिसाब बढ़ा देते हैं! इस तरह जनता के जीवन के आवश्यक पदार्थों पर अपना अधिकार कर लेते हैं और इसी से देश में आर्थिक संकट उत्पन्न होता है और इसीलिए आर्थिक क्राति की आवश्यकता है।

पहला मित्र—क्या गीता में धन-सम्पत्ति के संग्रह करने की मनाई की गई है?

मै—धन-सम्पत्ति सार्वजनिक पुरुषार्थ से उत्पन्न होती है। उस पर विशेष व्यक्ति या व्यक्तियों को कोई अधिकार नहीं होता कि वे संग्रह करके अपने स्वार्थ के लिए उसे दवा रखे। यदि कुछ व्यक्ति अपनी वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति से अधिक सम्पत्ति का संग्रह कर रखते हैं और दूसरों की वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उनको उपयोग से वंचित रखते हैं तो इससे समाज मे वडी विषमता उत्पन्न होती है। ऐसी विषमता को मिटाने के लिए ही भगवान कृष्ण प्रकट हुए थे; इसलिए गीता व्यक्तिगत पूँजीवाद (Capitalism) का निषेध करती है और इसी भाव से अ० ४ श्लोक २१ अ० ६ श्लोक १० और अ० १८ श्लोक ५३ में "परिग्रह" यानी धन संग्रह करके रखने की मनाही की गई है।

पहला मित्र—यह मनाई तो संन्यासियों के लिये है।

मैं—गीता, अर्जुन को अपना कर्तव्य सुझाने के लिए कही गई थी न कि सन्यासियों को। वास्तव में समत्वयोगी ही गीता का संन्यासी है।

> ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
> निर्द्वन्द्वोहि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ५-३ ॥
> सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः।
> एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ५-४ ॥

अर्थ—जो न द्वेष करता है और न आकांक्षा (अभिलाषा) रखता है, उसे नित्य संन्यासी समझना चाहिए, अर्थात् वही सच्चा संन्यासी है; क्योंकि हे महाबाहो! द्वन्द्वों से रहित हुआ वह सहज ही बन्धन से छूट जाता है। तात्पर्य यह है कि जगत् की पृथकता को सच्ची मानकर कर्मों से द्वेष करके, गार्हस्थ को छोड़कर वनवासी हो जाने से, अथवा एक वेप और एक नाम को छोड़कर दूसरा वेष और दूसरा नाम ग्रहण कर लेने से सच्चा संन्यास नहीं होता; किन्तु रागद्वेष, अनुकूल-प्रतिकूल, सुख-दुख, ग्रहण-त्याग, मान-अपमान, निंदा-स्तुति, हानि-लाभ, बन्ध-मोक्ष आदि सब प्रकार के द्वन्द्वों से ऊपर उठने, यानी भिन्नता के भावों में एकता के अनुभवपूर्वक आचरण करने से ही सच्चा संन्यास होता है और उसी से सब प्रकार के बन्धनों की निवृत्ति होती है। वेप का संन्यासी तो घर छोड़ कर वनवासी होने पर होता है, परन्तु द्वैत-भाव को छोड़कर

एकत्व-भाव से आचरण करनेवाला जीवन-मुक्त समत्व योगी सदा ही संन्यासी होता है (५-३)।

सांख्य, अर्थात् घर-गृहस्थी से अलग होकर अध्यात्म विचार मे लगे रहने की सन्यासनिष्ठा और योग, अर्थात् घर गृहस्थी में रहते हुए सर्वभूतात्मैक्य-साम्यभाव से जगत के व्यवहार करने की कर्म निष्ठा को बेसमझ अर्थात् अज्ञानी लोग पृथक्-पृथक् कहते है; पंडित अर्थात् ज्ञानी (ऐसा) नहीं (कहते)। जो दोनों मे से किसी (एक निष्ठा) में भी पूर्णतया स्थित हो जाता है, उसे दोनों का फल मिल जाता है (५-४)।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥६-१॥
यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥६-२॥

अर्थ--कर्म फल के आश्रय बिना अर्थात् कर्मों के फल में किसी भी प्रकार की व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की आसक्ति न रख कर जो (मनुष्य) कर्तव्य कर्म करता है, वही संन्यासी है और वही योगी अर्थात् समत्व-योगी है; न तो निरग्नि अर्थात् गृहस्थाश्रम को त्यागनेवाला, और न अक्रिय अर्थात् कर्मों से रहित होनेवाला ही। तात्पर्य यह कि गृहस्थाश्रम और उसके व्यवहार छोड़कर निठल्ले बैठे रहनेवाला वास्तविक संन्यासी नहीं होता, किन्तु व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की आसक्ति बिना अपने कर्तव्य-कर्म करनेवाला समत्व-योगी ही सच्चा संन्यासी

होता है (६-१)। जिसको संन्यास कहते हैं उसी को, हे पाण्डव ! योग अर्थात् समत्व-योग जान; क्योंकि मानसिक संकल्पों के संन्यास बिना कोई भी योगी अर्थात् समत्व-योगी नहीं हो सकता। तात्पर्य यह कि उपरोक्त समत्व-योग को ही सच्चा सन्यास समझना चाहिए, क्योंकि सच्चा समत्वयोगी वही होता है, जिसके मन में व्यष्टि और समष्टि की एकता हो जाती है, एवं व्यष्टि जीवन, समष्टि जीवन के लिए हो जाने से जिसके मन मे दूसरों से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के संकल्प ही नहीं उठते, और जो अपने शरीर की योग्यता के कर्तव्य कर्म अनासक्त बुद्धि से लोक संग्रह के लिए करता रहता है (६-२)

इसलिए समत्व-योगी को ही धन संग्रह करके साधारण जनता को उसके उपयोग से वञ्चित रखने की मनाही है और समत्व-योग का आचरण करने का सबके लिए विधान है। इससे स्पष्ट है कि व्यक्तिगत पूँजीवाद का गीता में सर्व साधारण के लिए निषेध है। १६ वें अध्याय के १२-१३ श्लोकों में इस तरह धन संग्रह करनेवाले पूँजीपतियों को असुर कहा है।

दूसरा मित्र—तो फिर काम करने का उद्देश्य ही क्या रहेगा ?

मैं—लोक संग्रह, यानी समाज की सुव्यवस्था। गीता में केवल व्यक्तिगत लाभ के लिए ही काम करने का निषेध किया गया है और व्यक्तिगत लाभ न दीखने पर निकम्मे बैठे रहने की भी मनाई है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफल हेतुर्भू मा ते सङ्गोऽस्तवकर्मणि ॥२-४७॥

अर्थ—कर्म ही में तेरा अधिकार है, फल में कदापि नहीं; तेरे कर्म, फल के उद्देश्य से न होवें और कर्म न करने में तेरी आसक्ति न होवे (२-४७) ।

दूसरा मित्र—लाभ के प्रलोभन बिना काम करने की प्रवृत्ति और प्रोत्साहन नहीं रहेगा । फिर लोग निरुद्यमी बन जावेंगे और समाज की व्यवस्था उल्टी बिगड़ेगी ।

मैं—इस समय सारे समाज का दृष्टिकोण केवल अनुचित व्यक्तिगत लाभ का ही हो रहा है, जिससे थोड़े से आदमियों के पास धन का बेहिसाब अनावश्यक जमाव होकर शेष जनता की आवश्यकताएँ पूरी न होने के कारण इतना भारी संकट हो रहा है कि स्वय धन जमा करनेवालों को भी चैन नहीं है । फिर भी किसी दूसरी व्यवस्था पर चित्त जमता ही नहीं । ससार मे प्रत्येक व्यक्ति के लिए सुख-शांति पूर्वक जीवन-यापन करने क साधनों की आवश्यकता रहती है और वे साधन सबके पुरुषार्थ करने से ही प्राप्त हो सकते हैं । इस समय भिन्नता के भावों के कारण विशेष व्यक्तियों को, दूसरों की जरूरतों को ठुकराकर, अपने लिए वास्तविक आवश्यकताओं से भी अधिक लाभ करने का अधिकार है । पर यदि गीता में वर्णित सबकी एकता के समत्व-योग का सिद्धान्त समाज, स्वीकार कर ले तो यह दृष्टिकोण बदल जावे और सब लोग समष्टि हित यानी सबके

लाभ के लिए अपने-अपने कर्तव्य कर्म करने लग जावें जिस से प्रत्येक व्यक्ति को उसके हिस्से का उचित लाभ प्राप्त होता रहे, प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताएँ सहज ही पूरी होती रहें और विषमता मिट कर समाज में पूर्ण सुख-शांति की स्थापना हो जावे। हाँ, जो लोग अकेले ही धन जमा करके अनावश्यक भोग भोगते हैं और उस धन का अपव्यय करके स्वयं दुःख पाते हैं और दूसरों को भी दुःखी करते हैं उनकी मठमर्दी अवश्य ही समाप्त हो जावे।

दूसरा मित्र—पर क्या इस व्यवस्था से मनुष्य का व्यक्तित्व ही नहीं मिट जावेगा।

मैं—यह ससार अन्योन्याश्रित है; यानी जगत में जितने भूत प्राणी हैं वे एक दूसरे पर निर्भर हैं। कोई भी व्यक्ति एक दूसरे के सहयोग और सहायता के बिना अकेला कुछ भी नहीं कर सकता। सबका जीवन एक दूसरे के व्यवहारों पर आश्रित है। ससार की रचना ही ऐसी है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति अपनी व्यष्टि शक्तियों या पुरुषार्थ को समष्टि यानी सबकी शक्तियों या पुरुषार्थ के साथ जोड़ दे, दूसरों के साथ सहयोग करे, तभी उसका जीवन निर्वाह हो सकता है, यानी जीवन की आवश्यकताएँ पूरी हो सकती हैं। क्योंकि व्यष्टि यानी व्यक्तियों के योग से समष्टि बनता है और व्यष्टि यानी प्रत्येक व्यक्ति का जीवन समष्टि यानी सबके सहयोग पर निर्भर होता है। इस तरह प्रत्येक व्यक्ति के अपने व्यक्तित्व को समष्टि के अन्तर्गत समझने और

अपने व्यष्टि व्यवहार समष्टि के साथ सम्मिलित करने से उसका व्यक्तित्व मिट नहीं जाता किन्तु वह महान् होता है और इसी से उसकी सर्वाङ्गीण उन्नति होती है। इसी को गीता में यज्ञ चक्र कहा है। इस यज्ञ की अवश्य कर्तव्यता तीसरे अध्याय में कही है।

सहयज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ ३-१० ॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेय. परमवाप्स्यथ ॥ ३-११ ॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्तेस्तेन एव सः ॥ ३-१२ ॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जते तेत्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ ३-१३॥
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ ३-१४ ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगत ब्रह्म नित्य यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ ३-१५ ॥
एवं प्रवर्तितं चक्र नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ ३-१६ ॥

अर्थ—पहिले पहल (सृष्टि-रचना के अधिदेव, समष्टि-संकल्परूप) प्रजापति (ब्रह्मा) ने यज्ञ सहित, अर्थात् अपने-अपने स्वाभाविक गुणों की योग्यतानुसार अपने-अपने हिस्से के कर्तव्य

कर्म—जगत अथवा समाज की सुव्यवस्था, भलाई एव उन्नति रूप लोक-संग्रह के लिए—करने के विधान सहित, प्रजा को रचकर कहा कि इस यज्ञ-चक्र के द्वारा तुम्हारी वृद्धि होवे अर्थात् तुम इससे फलो-फूलो; वह यज्ञ-चक्र तुम्हारे इच्छित पदार्थों को देने वाला (कामधेनु) होवे। तात्पर्य यह कि संसार स्वभाव से ही यज्ञमय है और यज्ञ पर ही निर्भर है, अर्थात् सब कोई अपने अपने कर्तव्य पालन करके एक दूसरे की आवश्यकताएँ पूरी करें तभी वह सुखसमृद्धि सम्पन्न रह सकता है। (३-१०)। तुम इस (यज्ञ) से देवों को पुष्ट करो और वे देव तुम्हें पुष्ट करें; इस तरह आपस में एक दूसरे को पुष्ट करते हुए तुम परम श्रेय को प्राप्त होवोगे। तात्पर्य यह कि संसार में सभी पदार्थ एक दूसरे के उपकारी उपकार्य हैं; अतः प्रत्येक व्यक्ति के अपने अपने हिस्से के कर्तव्य कर्म करने के योग से जगत को धारण एवं संचालन करनेवाली समष्टि दैवी शक्तियाँ पुष्ट (पूरित) होती हैं; और उन समष्टि शक्तियों के पुष्ट होने से ही प्रत्येक व्यक्ति की सब प्रकार की आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। इस तरह आपस में एक दूसरे के उपकार अथवा सेवा करते रहने से सबका कल्याण होता है (३-११)। यज्ञ से पुष्ट होकर देव तुमको तुम्हारे इच्छित भोग देंगे; परन्तु उन (देवों) का दिया हुआ पीछा उन्हें दिये बिना जो व्यक्ति (सब भोग्य पदार्थ) केवल आपही भोगता है वह निश्चय ही चोर है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने हिस्से के कर्तव्य कर्म अच्छी तरह करने से जगत को

धारण करनेवाली समष्टि शक्तियाँ पोषित होती हैं, तब उनसे प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के लिए आवश्यक पदार्थ उत्पन्न होते हैं, अर्थात् संसार के सभी भोग्य पदार्थ सबकी सम्मिलित शक्ति के योग से उत्पन्न होते हैं; परन्तु जो व्यक्ति उन सार्वजनिक पदार्थों से केवल अपनी ही व्यक्तिगत इच्छाओं की पूर्ति करके दूसरे सबको उनसे वंचित रखता है, वह सबकी चोरी करता है (३-१२)। यज्ञ से बचे हुए भाग को भोगनेवाले सज्जन पुरुष सब पापों से मुक्त हो जाते हैं, परन्तु जो केवल अपने लिए ही पकाते है वे पापी पाप को भोगते हैं । तात्पर्य यह कि अपने-अपने कर्तव्य-कर्म अच्छी तरह करने से जो पदार्थ प्राप्त हों, उनसे दूसरों की आवश्यकताएँ यथायोग पूरी करते हुए जो सज्जन अपनी आवश्यकतानुसार उन्हे भोगते हैं, वे पाप के भागी नहीं होते; परन्तु जो दूसरों की आवश्यकताओं की उपेक्षा करके केवल अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं की पूर्ति के लिए ही काम करते हैं वे पाप कमाते हैं (३-१३)। अन्न अर्थात् भोग्य पदार्थों से भूत प्राणी होते हैं; पर्जन्य अर्थात् समष्टि उत्पादक शक्ति से अन्न अर्थात् भोग्य पदार्थ होते हैं; यज्ञ से समष्टि उत्पादक शक्ति होती है; और यज्ञ कर्म से अर्थात् सबके अपने-अपने हिस्से के कर्तव्य कर्म यथावत् करने से होता है (३-१४)। कर्म को प्रकृति-रूप ब्रह्म से, और प्रकृति को अक्षर अर्थात् समष्टि आत्मा=परमात्मा से उत्पन्न हुई जान, इसलिए सर्व-व्यापक प्रकृति-रूप ब्रह्म सदा ही यज्ञ में अर्थात् संसार चक्र को चलाने में स्थित

है (३·१५)। इस तरह, (जगत के धारणार्थ) प्रवृत्त किये हुए (यज्ञ) चक्र के अनुसार जो इस जगत में नहीं वर्तता, उसकी आयु पाप-रूप है और उस इन्द्रिय आरामी का जीना व्यर्थ है। तात्पर्य यह कि जो व्यक्ति इस संसार के खेल में अपने व्यक्तित्व एवं व्यक्तिगत स्वार्थों की सबके साथ एकता करके अपने हिस्से के कर्तव्यकर्म करने द्वारा दूसरों की आवश्यकताएँ पूरी करने में सहायक होकर संसार चक्र को चलाने में योग नहीं देता, किन्तु केवल अपने आराम में ही जीवन व्यतीत करता है उसका जीना निरर्थक है (३-१६)।

मैं—क्या व्यष्टि को समष्टि में जोड़ने के इस यज्ञ से व्यक्ति मिटता है या महान होता है ? जरा विचार कीजिए। गीता मनुष्य का व्यक्तित्व मिटाती नहीं किन्तु एक तुच्छ व्यक्तित्व को महान् बनाती है। एक व्यापारी यदि किसी बड़ी कम्पनी या सिंडीकेट में शामिल हो जाता है या साझेदार बन जाता है तो वह बड़ा होता है या मिट जाता है ? कोई मनुष्य किसी राष्ट्र या संस्था का सदस्य होता है तो उसका व्यक्तित्व मिट नहीं जाता किन्तु बड़ा हो जाता है। इसी तरह व्यक्ति जब अपनी तुच्छ भिन्नता को समष्टि में जोड़ देता है तो वह मिट नहीं जाता किन्तु महान हो जाता है।

पहला मित्र—इन श्लोकों में ब्रह्मा ने पहले यज्ञ सहित प्रजा को रचकर कहा कि इस यज्ञ से तुम बढ़ो और अपने मनोरथ पूरे करो, ऐसा कहा है; इसका भावार्थ क्या है।

मैं—यह कविता की आलंकारिक भाषा है। ब्रह्मा समष्टि सत्ता का संकल्प यानी प्रकृति है, यह मैं पहले बता आया हूँ; और यज्ञ का अर्थ मैंने अभी कहा ही है कि अपनी व्यष्टि शक्तियों को समष्टि मे जोड़ देना यानी सारे समाज की सुव्यवस्था के लिए अपनी-अपनी अलग-अलग योग्यता के कर्तव्य कर्म करने का योग देना ही यज्ञ है। इस यज्ञ को करने से ही सबकी आवश्यकताएँ पूरी होती हैं और समाज की उन्नति व वृद्धि होती है; इसलिए सृष्टि की रचना यज्ञमय है। यही इस श्लोक का तात्पर्य है। अगर सृष्टि के आदि मे ब्रह्मा हवन के साथ ही सारी प्रजा को रचता, जैसा कि कर्मकाण्डी साम्प्रदायिक लोग अर्थ करते हैं, तो संसार में सर्वत्र सदा हवन होता रहता, तभी लोग जीवित रहते। पर हवन कहीं भी नहीं होता फिर भी लोगों का जीवन निर्वाह हो रहा है।

पहला मित्र—इन श्लोकों मे कहा है कि "इस यज्ञ से देवता प्रसन्न होकर वे तुमको इच्छित पदार्थ देंगे" इससे तो देवताओं के निमित्त हवन आदि करने का विधान पाया जाता है।

मैं—यहाँ "देवता" शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है किन्तु "देव" शब्द है। "देव" समष्टि शक्तियों को कहते हैं। व्यष्टि शक्तियों के योग से समष्टि शक्तियाँ पूरित होती हैं और फिर समष्टि शक्तियों से व्यक्तियों की आवश्यकताएँ पूरित होती हैं। जो व्यष्टि-समष्टि की व्यवस्था मैंने अभी बताई है वह इन्हीं श्लोकों के आधार पर कही थी। इनमे देवताओं के निमित्त हवन

या अर्चन पूजन करने का विधान नहीं है। देवताओं के निमित्त हवन या अर्चन पूजन की तो भगवान् ने बहुत निन्दा की है।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्य देवताः।
तंतं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥ ७-२०।
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ ७-२१॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥ ७-२२॥
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्प मेधसाम्।
देवान्देवयजो यांति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥ ७-२३॥

अर्थ—(नाना प्रकार की) कामनाओं से विक्षिप्त बुद्धिवाले लोग (उपासना के) जिस-जिस नियम में उनकी प्रकृति उन्हे प्रेरित करती है, उस-उसका अनुसरण करके, (मुझसे) भिन्न देवताओं की उपासना करते हैं। जो-जो (देवता का भक्त) जिस-जिस रूप की श्रद्धा पूर्वक आराधना करना चाहता है, उस-उसकी श्रद्धा "मैं" उस (देवता) ही में दृढ़ कर देता हूँ। उस श्रद्धा से युक्त वह उस (देवता) की आराधना करता है और उससे उसकी वे कामनाएँ मेरे ही निर्दिष्ट किए हुए विधानानुसार पूर्ण होती हैं (७-२०-२२)। परन्तु उन अल्प बुद्धि लोगों का वह (कामनाओं की पूर्ति-रूप) फल नाशवान् होता है। देवताओं की उपासना करनेवाले देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरी भक्ति करनेवाले मुझमें आ मिलते हैं (७-२३)।

दूसरा मित्र—तीसरे अध्याय के १४ वें श्लोक का अर्थ जो आपने किया है, वह तो दूसरे टीकाकारों से बिल्कुल ही नहीं मिलता। दूसरे टीकाकारों ने तो "हवन से वर्षा होती है। वर्षा से अन्न और अन्न से भूत प्राणी होते हैं" ऐसा अर्थ किया है।

मैं—हवन से वर्षा कैसे होती है सो आप बतलाइए।

दूसरा मित्र—हवन से देवता लोग प्रसन्न होकर वर्षा करते हैं अथवा हवन का धुआँ आकाश में जाकर बादल बनकर बर्षाता है, ऐसा माना जाता होगा।

मैं—मैंने आपको पहले बता दिया है कि गीता में विधान किया हुआ "यज्ञ" हवन है ही नहीं, तो फिर देवता लोग कैसे प्रसन्न होंगे और धुआँ किससे निकलेगा: और जब कि देवताओं की आराधना की भगवान् निन्दा करते हैं तो उनके निमित्त हवन करने को कैसे कहते? इसके अतिरिक्त हवन करने से वर्षा हो, यह देखने में नहीं आता। हवन तो केवल हिन्दुस्तान में किसी जगह कभी कोई होता होगा। इतने से हवन से सारे देश में वर्षा कैसे हो जाती है, और जिन देशों में हवन का नाम-निशान भी कोई नहीं जानता उनमें उतनी वर्षा होती है जितनी हिन्दुस्तान में होती ही नहीं। इसलिए यह अर्थ बिल्कुल असंगत है। कितने आश्चर्य की बात है कि विज्ञान के इस युग में भी, साम्प्रदायिकता के संकुचित दृष्टिकोण रखनेवाले महानुभाव इस तरह के—तर्क, युक्ति, प्रमाण और स्वतंत्र विचार के सामने न क

जरा भी न ठहर सकनेवाले—अव्यवहारिक अर्थ करके गीता का महत्व घटाते ही नहीं किन्तु उसे हास्यास्पद बनाते हैं।

दूसरा मित्र—"वर्षा से अन्न होता है और अन्न से भूत प्राणी होते हैं" कहा है सो अन्न तो वर्षा से ही होता है यह प्रत्यक्ष देखने में आता है ।

मैं—वर्षा से तो चावल, गेहूँ, जव आदि अन्न ही होते हैं परन्तु सारे भूतप्राणी इस अन्न पर निर्भर नहीं रहते। अधिकतर प्राणी मांस मछली आदि खाते है और कई जीव केवल जल पर और कई मिट्टी आदि पर गुजर करते हैं, जो वर्षा से उत्पन्न नहीं होते। अन्न शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है। प्राणियों के जितने भोग्य पदार्थ हैं वे सव अन्न हैं; और ये पदार्थ समष्टि उद्योग से उत्पन्न होते हैं। यही अर्थ युक्ति संगत है और इसी अर्थ से पूर्वापर की संगति मिलती है। यदि वर्षा होती रहे और लोग खेती न करें तो अन्न पैदा नहीं हो सकता और जहाँ वर्षा नहीं होती वहाँ भी लोग अपने पुरुषार्थ द्वारा नहरों आदि की सिंचाई से अन्न उत्पन्न करते है। भगवान् ने इसीलिए श्लोक १४ में "यज्ञः कर्म समुद्भवः", यानी यज्ञ अपने-अपने कर्म करने से होता है, कहकर इस अर्थ को साफ कर दिया है।

पहला मित्र—तो आपकी व्याख्या के अनुसार गीता में अपने-अपने कर्तव्य लोक-संग्रह के लिए करके ही उससे अपना जीवन निर्वाह करने का विधान है किसी को धन संग्रह करके रखने का अधिकार नहीं है।

मै—हाँ जो लोग समष्टि उद्योग से उत्पन्न हुए धन को अपने जीवन निर्वाह की आवश्यकता से अधिक संग्रह करके दूसरों को उसके उपयोग से वंचित रखते हैं, केवल अपने भोग के लिए ही उसका उपयोग करते हैं, उनको १२ वे श्लोक मे चोर कहा है और १३ वें श्लोक में उनको पाप भोगनेवाला कहा है; और जो लोग अपने कर्तव्य कर्म से विमुख होकर, एक दूसरे की आवश्यकताएँ पूरी करने के यज्ञ मे योग नही देते, उन आलसियों का जीवन १६ वें श्लोक में पाप रूप बताकर साफ कह दिया है कि उनको जीने का कोई अधिकार नहीं है। वर्तमान समय में धर्म के ठेकेदार जो गुरु, आचार्य, प्रोहित, पडे, पुजारी, साधु-संन्यासी, महन्त, मठधारी आदि हैं; और राज के ठेकेदार राजा, महाराजा, सामन्त, जागीरदार, पंच, चौधरी, लम्बरदार व राज्य-शासन के अधिकारी जो रिश्वतें ले लेकर धन एकत्र कर रहे हैं, वे; और पूँजीपति, सेठ साहूकार, व वकील कौंसिली जो लोगों को लड़ाने के लिए कानून के बाल की खाल खींचकर जनता से धन ऐंठ-ऐंठकर एकत्र करते हैं, व वैद्य डाक्टर लोग जो रोगियों की आतुरता का अनुचित लाभ उठाकर अनाप-शनाप फीसे ले-लेकर मालदार बने हुए हैं, ये सब लोग जनता का बडा भारी शोषण करते हैं; इन्ही लोगों पर गीता के ये श्लोक हूबहू लागू पड़ते हैं; क्योकि यही लोग जनता की वास्तविक आवश्यकताओं को पूरी करने में सहायक होने के लिए समुचित परिश्रम किए बिना या बहुत थोडा करके लोगों का बहुत अधिक शोषण करते

हैं और जन साधारण के धन को दबाएँ रहते हैं। गीता के ९ वें अध्याय के १२ वें श्लोक में और १६ वें अध्याय में असुरों के वर्णन में भी इन्हीं लोगों को राक्षस और असुर कहा है। आप लोग "गीता का व्यवहारदर्शन", में इन श्लोकों का स्पष्टीकरण ध्यानपूर्वक पढ़कर राक्षसों और असुरों के लक्षणों का इनके साथ मिलान करेंगे तो कुछ भी अन्तर नहीं पावेंगे।

पहला मित्र—इस यज्ञ के विधान को चक्र क्यों कहा ?

मैं—चक्र गोल होता है और उसके जितने अङ्ग या पुर्जे होते हैं वे सभी एक दूसरे से जुटे हुए, एक दूसरे के सहायक या पूरक होते हैं; उन्हीं से वह बनता है और उन्हीं से चलता है। उसके लिए सारे पुर्जों की एक बराबर आवश्यकता है और चक्र का कोई भी पुर्जा उससे अलग रहकर कुछ भी नहीं कर सकता। इसी तरह यह संसार और समाज गोला चक्र रूप है। ससार के सभी भूतप्राणी और समाज के सभी मनुष्य (स्त्री-पुरुष) उसके अङ्ग या पुर्जे हैं। वे सभी आपस में मिले हुए अपनी-अपनी स्वाभाविक योग्यताओं के कर्तव्यकर्म यानी व्यवसाय या पेशे करके एक दूसरे की आवश्यकताएँ पूरी करने में लगे रहें तभी संसार और समाज की व्यवस्था का चक्र ठीक-ठीक चलता रहता है। समाज की सुव्यवस्था के लिए जो वर्ण-व्यवस्था बनाई गई है उसके अनुसार नाना पेशे या नाना व्यवसाय करनेवाले लोग अपने-अपने पेशे या व्यवसाय करने द्वारा एक दूसरे की आवश्यकताएँ न पूरी करें तभी उनका अपना और सारे समाज का

जीवन निर्वाह सुख शांतिपूर्वक हो सकता है। समाज की सुव्यवस्था के लिए सभी पेशों के लोगों की समान रूप से आवश्यकता रहती है, क्योंकि सभी एक दूसरे पर निर्भर या आश्रित हैं। यदि कोई भी पेशा करनेवाला—चाहे वह छोटा हो या बड़ा-अपना पेशा ठीक से नहीं करे तो समाज का गाड़ा या चक्र अटक जावे, शृङ्खला बिगड जावे या लड़ी टूट जावे और खुद उसका भी काम नहीं चले। जिस तरह गरबा, या घूमर या रास मण्डल के नृत्य में खिलाड़ी लोग गोलाकार व्यूह करके एक दूसरे से तालबद्ध होकर, ताली अथवा डँडे लड़ाकर नृत्य करते हैं; उनमें से यदि एक खिलाड़ी ताल मिलाना चूक जावे तो सारे नृत्य की शृङ्खला बिगड़ जाती है और उस खिलाड़ी का अपना नृत्य भी बिगड जाता है; उसी तरह समाज संगठन के गोल चक्र में यदि कोई व्यक्ति अच्छी तरह सहयोग न दे तो उसकी व्यवस्था बिगड़ जाती है। इसीलिए इसको यज्ञ चक्र कहा है।

पहला मित्र—जब धन का कोई संग्रह नहीं होगा तो बाल-बच्चों का पालन-पोषण, शिक्षण आदि कैसे होंगे और वृद्धावस्था मे गुजारा कैसे होगा।

मैं—संतान-उत्पत्ति पर नियंत्रण रहेगा, ताकि जिसकी जितनी आय हो और उससे जितने बच्चों का पालन-पोषण हो सके, उससे अधिक संतान उत्पन्न न होवें और बालकों की शिक्षा की जिम्मेदारी राज्य पर होगी। वृद्ध लोगों के लिए

समष्टि समाज या राज्य बन्दोबस्त करेगा, यानी उनके बीमा की योजना की जावेगी जिससे सब का निर्वाह होगा।

दूसरा मित्र—धन संग्रह बिना विवाह और मृत्यु के सम्बन्ध के खर्चों की पूर्ति कैसे होगी?

मैं—जब गीता के अनुसार धार्मिक और सामाजिक क्रांति हो जायगी तो मृत्यु के अवसर पर प्रेतकर्म और प्रेत भोजन कहाँ बाकी रहेंगे और जाति-पाँति के रीति-रिवाज मिट जाने से विवाह मे खर्च किस बात में लगेगा। यदि इस तरह के फिजूल खर्च बने रहे तो फिर क्रांति ही क्या हुई। गीता के १२ वें अध्याय के १६ वें श्लोक में और १४ वें अध्याय के २५ वे श्लोक में इन सब आडम्बरों को ही "आरम्भ" कहकर इनकी मनाही की है।

तीसरा मित्र—संन्यास आश्रम के लिए तो कोई अवश्य कर्तव्य नहीं होगा।

मैं—गीता में किसी आश्रम की कहीं व्यवस्था नहीं है। काम करने की योग्यतावाले मनुष्य यानी स्त्री-पुरुप मात्र के लिए, बिना किसी प्रकार की रियायत या रुकावट के अपनी-अपनी योग्यता के काम करना अनिवार्य है। ३ रे अध्याय के १६ वें श्लोक के अनुसार निकम्मा रहकर या निठल्ला बैठकर खाने और समाज पर बोझ रूप होकर जीने का किसी को अधिकार नहीं है।

तीसरा मित्र—उस श्लोक के बाद ही १७ वें व १८ वें श्लोक ने रियायत दी गई है न।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥३-१७॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थ व्यपाश्रयः ॥३-१८॥

अर्थ—परन्तु जो मनुष्य केवल आत्मा ही में रत, और आत्मा ही मे तृप्त एवं आत्मा ही मे संतुष्ट रहता है, अर्थात् जिसको सर्वत्र एक आत्मा यानी एकत्व भाव का अनुभव हो जाता है, उसका कोई अवश्य कर्तव्य नहीं रहता। न तो संसार में कुछ करने से ही उसका कोई प्रयोजन होता है और न नहीं करने से ही; तथा सम्पूर्ण भूतप्राणियों से उसका व्यक्तिगत स्वार्थ कुछ भी नहीं रहता। ॥३-१७-१८॥

मैं—इन श्लोकों में किसी आश्रम या वर्ण के मनुष्य का उल्लेख नहीं है। केवल आत्मज्ञानी का उल्लेख है: और फिर भी इनमें रियायत नहीं है। इनमें यही कहा गया है कि आत्म-ज्ञानी को अपने लिए कुछ भी अवश्य कर्तव्य नहीं है, क्योंकि काम करने और न करने से उसको कुछ भी प्रयोजन नहीं होता। वह सब बन्धनों से परे होता है; परन्तु वह भी अपनी स्वतंत्र इच्छा से आसक्ति के बिना लोक-संग्रह के लिए अपने शरीर की योग्यता के काम करता रहता है। श्लोक १९ में अर्जुन को उसी तरह आसक्ति से रहित होकर अपने कर्तव्य कर्म करने को कहा है और फिर श्लोक २० मे राजा जनक का दृष्टांत देकर और ४ थे अध्याय के १५ वें श्लोक मे पूर्वकाल के बहुत से मुमुक्षुओं

का हवाला देकर उसी तरह कर्म करने के लिए फिर जोर दिया है।

पहला मित्र—गीता के अनुसार सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था जो आपने बताई वह तो ठीक समझ में आ गई। अब आप बताइए कि वर्तमान में इस देश के लिए आर्थिक क्रांति किस रूप में होनी चाहिए।

मैं—मैंने आपको पहले दिन की बातों में ही कह दिया था कि छोटे-बड़े सब धनवानों की, उनके जीवन की उचित आवश्यकताओं की पूर्ति से अधिक, सारी सम्पत्ति निकलवाकर और उसका एक सार्वजनिक धरोहर बनाकर, उसके हिस्से यानी शेयर, प्रत्येक की सम्पत्ति की मात्रा के अनुपात से, उनको दे दिये जावें और उस धरोहर से देश के सारे उद्योग धंधे चलाये जावें, जिनमें वे लोग भी लगाये जावें। उनमें जो लाभ हो उसमें मजदूरों और धरोहरवालों का बराबर का साझा हो। इस तरह की आर्थिक व्यवस्था से देश की उत्पादन शक्ति बढ़कर संकट दूर हो सकता है।

पहिला मित्र—यह व्यवस्था वर्तमान परिस्थिति के बिल्कुल ही उपयुक्त है। अच्छा अब राजनैतिक क्रांति पर विचार होना चाहिए।

मैं—आज तो देर हो गई। कल फिर इसी समय आप लोगों को अवकाश हो तो विचार विमर्श करना चाहिए।

राजनैतिक क्रान्ति

छठे दिन भी सदा की तरह फिर सभी मित्र एकत्र हुए और राजनैतिक क्रांति पर चर्चा होने लगी।

पहला मित्र—कहिए गीता के अनुसार राजनैतिक क्रांति का क्या स्वरूप है।

मैं—इस विषय पर विचार करने के पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि राज्य-व्यवस्था का प्रयोजन क्या है। राज्य-व्यवस्था जन-साधारण के जीवन के नैसर्गिक अधिकारों की रक्षा करने, समाज में सुव्यवस्था स्थापन करने और उसको बनाये रखने के साथ-साथ लोगों की सर्वाङ्गीण उन्नति करने में सहायता और उसके लिए न्यायपूर्वक सबको समान रूप से अवसर व सुभीते देने के लिए होती है। गीता के अनुसार इस आदर्श राज्य-व्यवस्था को वे ही लोग स्थापन कर सकते हैं और चला सकते हैं जिनमें विश्व की एकता का अटल निश्चय हो और उस आत्मज्ञान के आधार पर साम्यभाव से संसार के व्यवहार करने की जिनमें योग्यता हो। वे ही ब्रह्म-विद्या को जाननेवाले समत्वयोगी राज्य की उन जिम्मेदारियों की पूर्ति कर सकते हैं। ४ थे अध्याय के आरम्भ में जो इस समत्व-योग

को राज-ऋषियों के द्वारा ग्रहण किए जाने का वर्णन है और ६ वें अध्याय के दूसरे श्लोक मे इसी को राज-विद्या कहा है, इनका यही तात्पर्य है। गीता के अंतिम श्लोक में भी कहा है कि—

> यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
>
> तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम। ७८॥

अर्थ—जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं और धनुर्धारी अर्जुन हैं, वहाँ लक्ष्मी एवं शोभा, विजय, वैभव एवं ऐश्वर्य और ध्रुव नीति है—ऐसा मेरा मत है। तात्पर्य यह कि जहाँ सब की एकता के साम्य-भाव की पूर्णता-स्वरूप महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं, और जहाँ युक्ति सहित शक्ति-स्वरूप अर्जुन है; दूसरे शब्दों में जहाँ सब की एकता का साम्यभाव है और जहाँ विद्या, बुद्धि और बल है, वहाँ ही निश्चयपूर्वक राज-लक्ष्मी रहती है, वहीं सब प्रकार की शोभा और कीर्ति है, वहीं विजय होती है, वहीं वैभव और ऐश्वर्य है और वहीं अटल नीति है। जहाँ एकता नहीं, तथा विद्या, बुद्धि और बल नहीं, वहाँ दरिद्रता, अकीर्ति, पराजय, दासता, दीनता और मूर्खता का अविचल साम्राज्य रहता है। (१८-७८)

तीसरा मित्र—इस श्लोक में तो कहा है कि जहाँ कृष्ण और अर्जुन है, वहीं श्री, विजय, भूति और अटल नीति है। आप इसमें समत्वयोग और बुद्धि-बल कहाँ से ले आए।

मैं—कृष्ण और अर्जुन तो उस समय थे, अब नहीं है, तो क्या धन-सम्पति, विजय-वैभव और नीति सब उनके साथ चली गईं, उनके पीछे शेष रही ही नहीं ? उनके बाद भी संसार में धन-सम्पत्ति सब विद्यमान है। इस श्लोक में कृष्ण को "योगेश्वर" विशेषण देकर समत्व-योग की साक्षात् मूर्ति अंकित की है और अर्जुन को "धनुर्धारी" विशेषण देकर बल-सहित-बुद्धि यानी शक्ति और युक्ति का चित्र खींचा है।

दूसरा मित्र—यह श्लोक सञ्जय का कहा हुआ है, भगवान् कृष्ण का तो नहीं है।

मैं—सञ्जय, भगवान कृष्ण का सारा उपदेश सुनकर उसके आधार पर ही इस अंतिम निश्चय पर पहुँचा था।

पहला मित्र—१८ वें अध्याय के ४३ वे श्लोक में राज्य करनेवाले क्षत्रिय वर्ग के स्वाभाविक कर्मों की जो व्यवस्था की है उसमें शूरवीरता, तेजस्विता और लड़ाई में पीछे न हटने के गुण कहे हैं; इससे तो मालूम होता है कि गीता में आतंक से शासन करने का विधान है।

मैं—जगत् में रजोगुण और तमोगुण प्रकृति के स्वार्थी लोग बहुत होते हैं। दुष्टों को दबाये बिना, जनता की रक्षा और समाज की सुव्यवस्था नहीं हो सकती और शूरवीरता, तेज यानी प्रभाव आदि के बिना, ऐसे लोगों पर शासन नहीं हो सकता। ये गुण साधारण जनता पर आतंक जमाने के लिए नहीं कहे हैं किन्तु अत्याचारियों के आतंक से प्रजा की रक्षा करने के लिए कहे हैं;

क्योंकि इनके साथ ही "धैर्य" यानी प्रत्येक काम को धीरज और गंभीरता से विचार करना, "दक्षता" यानी नीति निपुणता या कार्य-कुशलता; "दान" यानी पदार्थों में ममता का त्याग और "ईश्वर भाव" यानी, सर्वात्मभाव, क्षत्रिय के आवश्यक गुण इसी श्लोक में कहे हैं। उस श्लोक की व्याख्या, मैं कल सामाजिक व्यवस्था के सिलसिले में कर चुका हूँ। राज्य एक सार्वजनिक संस्था है। इसके सुप्रबन्ध के लिए सभी प्रकार की नीति बरतने की आवश्यकता होती है। साम, दाम, भेद और दंड रूप से चार प्रकार की प्रधान राजनीति है। किसी परिस्थिति में साम यानी शांतिपूर्वक समझाने की नीति सफल होती है उसीसे काम चल जाता है। किसी परिस्थिति में दाम यानी कुछ दे-लेकर काम निकाला जाता है। किसी परिस्थिति में भेद डालने की आवश्यकता होती है और किसी परिस्थिति में दंड के बिना काम नहीं चलता। शासन के लिए दंड देने की अवश्य योग्यता होनी चाहिए। इसके बिना शासन चल ही नहीं सकता, और न्याय का पालन भी दंड की सहायता से ही किया जा सकता है। केवल शांतिमय उपायों से या दब्बूपन से राज्य-शासन नहीं चल सकता, न न्याय ही हो सकता है। पर इसका यह मतलब नहीं है कि राज्याधिकारी क्रूर हो जायँ या हरेक व्यक्ति को सदा दण्ड से ही भयभीत रखें। राज्याधिकारी का सारी प्रजा के साथ आत्मीयता का प्रेम होना चाहिए यानी जैसे अपने शरीर के अंगों के साथ प्रेम होता है वैसा ही होना चाहिए। परन्तु जिस तरह

शरीर का कोई अंग जब दूषित हो जाता है तो सारे शरीर की आरोग्यता के लिए, साहस पूर्वक उसका यथायोग्य उपचार किया जाता है और आवश्यकता पड़ने पर उसको काट भी दिया जाता है; उसी तरह प्रजा में से कोई व्यक्ति या समूह अन्याय या अत्याचार करके सारे समाज मे अव्यवस्था उत्पन्न करता है और दूसरे उपायों से शांत नहीं होता, तो उसको यथायोग्य दंड दिया जाता है। दण्ड, राज्य-व्यवस्था की रीढ़ की हड्डी है इसलिए आत्म-बल और शारीरिक बल की आवश्यकता है। पर दण्ड का उपयोग करने के पहले जहाँ तक हो सके, इनके प्रदर्शन से ही काम लेना चाहिए। इसीलिए "शूरवीरता" के साथ "तेज" शब्द का प्रयोग हुआ है। सभी देशों की राज-व्यवस्था, चाहे वे सभ्य हों या असभ्य, चाहे एकतंत्र हों या सार्वजनिक-प्रजातंत्र—सैनिक बल के आधार परिस्थित रहती है। और सर्वत्र सैनिक बल को बहुत महत्व दिया जाता है। अपने यहाँ भारत मे भी, यद्यपि पुलिस और फौज के बिना ही राज्य चलाने की अव्यवहारिक बाते बनाई जाती थीं परन्तु जब शासन अधिकार हाथ मे आया तब पुलिस और फौज को बढ़ाया जा रहा है। हैदराबाद की गुत्थी इस बल से ही सुलझी और काश्मीर की भी इसी से सुलझेगी। यह सब कुछ होते हुए भी, गीता मे शूरवीरता व तेजस्विता के साथ-साथ धीरज यानी किसी काम में उतावला पन नहीं करना, गंभीरता से विचार करना, नीति कुशलता, स्वार्थ त्याग और सबको एक ही आत्मा या परमात्मा के अनेक रूप होने का अनुभव रखना, ये

गुण भी अनिवार्य माने गये हैं । इन सब गुणों का जिस में समावेश हो, वह ही आदर्श और सफल राजा होता है और जहाँ इन सब का समावेश हो वही राज्य-व्यवस्था अपने वास्तविक कर्तव्य और उत्तरदायित्व का समुचित रूप से पालन कर सकती है, चाहे वह एकतन्त्र शासन हो या प्रजातन्त्र । वहाँ अन्याय या अत्याचार हो ही नहीं सकते क्योंकि अपनी ही आत्मा या परमात्मा के साथ अन्याय या अत्याचार कौन कर सकेगा । सच्ची सार्वजनिक (Republican) राजव्यवस्था तो इस वेदान्त सिद्धान्त के आधार पर ही बन सकती है। जहाँ सब की सम्मिलित समष्टि इच्छा से ही जगत की रचना मानी गई है और जहाँ सबकी एकता व समता के योग को ही सारे संसार के व्यवहारों का आधार रखा है। विश्व की एक राज व्यवस्था (World Government) की जो बातें बनाई जाती हैं वे इसी सिद्धान्त पर स्थापित की जा सकती हैं ।

दूसरा मित्र—१० वें अध्याय के विभूति वर्णन में, "नराणां च नराधिपम्" कहकर राजा को निरंकुश कर दिया है । वह चाहे जितने अत्याचार करे उसे कोई पूछनेवाला नहीं ।

मैं—भगवान् कृष्ण अपने को सबकी आत्मा कहते हैं और इन गुणोंवाले राजा को अपनी एक विशेष विभूति बताते हैं । क्या सर्वव्यापक परमात्मा अथवा जो अपने को सबका आत्मा अनुभव करता है, उसकी विभूति किसी पर अत्याचार कर सकती है ।

पहला मित्र—क्या इस तरह के गुणोंवाले राजा का होना सम्भव है ?

मैं—वर्तमान के रजोगुण तमोगुण प्रधान समय मे ऐसे राजा नहीं हैं, इससे यह निश्चय नहीं करना चाहिए कि वे कभी होते ही नहीं। पूर्वकाल में ऐसे राजा होते थे तभी तो उनका वर्णन किया गया है। राजा जनक, मनु और इक्ष्वाकु के स्पष्ट नाम ही गीता में आए हैं, और साथ ही चौथे अध्याय के दूसरे श्लोक में "एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः" कहा है इससे पता लगता है कि और भी अनेक राजा ऐसे हुए हैं। राजा पृथु, भरत, यदु, कुरु, अज, रघु, राम, युधिष्ठिर, परीक्षित, सम्राट् अशोक, विक्रमादित्य आदि के नाम भी प्रसिद्ध है। अमेरिका के प्रेसीडेंट वाशिंगटन, अब्राहम लिंकन, रूज़वेल्ट, इंगलैंड का भूतपूर्वप्रधान मन्त्री ग्लैडस्टन, रूस का अधिनायक लेनिन और टर्की का कमालपाशा भी उसी श्रेणी मे गिनाये जा सकते हैं।

तीसरा मित्र—मनुस्मृति के देखने से तो विदित होता है कि राजा मनु में यह सर्वात्म-भाव या साम्यभाव नहीं था क्योंकि उसमे बहुत विषम और पक्षपात भरा पड़ा है।

मैं—यह कोई भी निश्चित रूप से नहीं कह सकता कि गीता में कथित मनु ने जो समाज व्यवस्था बनाई थी उसी का सच्चा संग्रह वर्तमान की मनुस्मृति में है। यद्यपि इस मनुस्मृति के आरम्भ में सबकी एकता के अध्यात्मज्ञान का उल्लेख है और उसके आधार पर ही समाज व्यवस्था बनाने का दावा है;

परन्तु जब आगे चलकर व्यवस्थाओं के विधान करने में उस एकता और समता के आध्यात्मिक आधार के विरुद्ध, विषमता और पक्षपात से काम लिया गया है, तब प्रतीत होता है कि या तो यह उस मनु की रची हुई मनुस्मृति नहीं है या स्वार्थी लोगों ने इसमें अपने प्रयोजन के लिए इतनी घटावढ़ी और फेर-फार कर दिए हैं कि उसका सारा मतलब ही पलट दिया।

तीसरा मित्र—यह तो राजाओं की एक तंत्री शासन व्यवस्था हुई। प्रजातंत्र की राज व्यवस्था का तो इसमें कोई जिक्र ही नहीं है।

मैं—नहीं। जिस तरह वर्तमान समय में प्रजा द्वारा चुनाव होकर चुने हुए व्यक्ति विधान परिषदों में राज्य-विधान बनाते हैं और प्रजाद्वारा चुने हुए व्यक्ति ही व्यवस्थापिका सभाओं में राज्य-संचालन की व्यवस्थाएँ बनाते रहते हैं, फिर उन चुने हुए लोगों में से ही मंत्री-मण्डल बनता है; उस तरह का विधान गीता में नहीं है क्योंकि उस समय की परिस्थिति के वह उपयुक्त नहीं था। इसके अतिरिक्त गीता के रचयिता ने सुराज्य को ही आवश्यक समझा है, आज कल के स्वराज्य को महत्व नहीं दिया है।

तीसरा मित्र—क्या स्वराज्य, सुराज्य नहीं है ?

मैं—प्रथम तो आजकल के स्वराज्य का कोई स्पष्ट अर्थ ही नहीं है। यदि "स्व" शब्द व्यक्ति विशेष तक ही परिमित रखा

जावे, तब तो स्वराज्य प्रत्येक व्यक्ति के अपने शरीर तक ही रहेगा। सारे समाज की सामूहिक राज्य-व्यवस्था इससे नहीं होगी। और यदि "स्व" शब्द सारे समाज तक विस्तृत कर दिया जावे तो समाज बहुत से व्यक्तियों से बनता है; फिर राज्य व्यवस्था इतने व्यक्तियों के हाथ में हो जायगी कि उसका कोई जिम्मेदार ही नहीं रहेगा।

तीसरा मित्र—इसीलिए तो प्रजातंत्र स्वराज्य में चुनाव पद्धति है जिससे सब लोगों के मत से चुने हुए व्यक्ति राज्य प्रबंध करते हैं। इस पद्धति से सब लोगों की आवाज राज्य प्रबंध में रहती है।

मैं—आवाज भले ही रहे, पर यह सब का स्वराज्य यानी अपना राज्य तो नहीं हुआ।

तीसरा मित्र—चुने हुए सभासद और मंत्री मण्डल को चुननेवालों की इच्छानुसार ही तो काम करना पड़ता है। यदि वे वैसा न करें तो बदल दिये जाते हैं।

मैं—प्रत्येक चुनाव चार पाँच वर्षों के अन्तर से होता है। इतने समय तक तो शासन उन्हीं लोगों का होता है जो एक बार चुन लिये गये। उस समय में सब लोगों का स्वराज्य नहीं रहता। फिर चुनाव का ढङ्ग इतना दूषित होता है कि बहुत बातें बनानेवाले धूर्त और हुल्लड़बाज लोग अपने शब्द जाल से अथवा धनवान लोग अपने धन के जोर से अथवा दूसरे

हथकण्डों से लोगों का मत एकत्र करके राजसभाओं के सभासद बन जाते हैं और वहाँ जा कर अपना उल्लू सीधा करते हैं। राजनैतिक लोगों की दलबंदियाँ (Parties) होती हैं और इस तरह के चुनावों में जिस दल के सदस्य अधिक संख्या में चुने जाते हैं उसी दल का मंत्रीमण्डल बनता है; क्योंकि प्रजातंत्र का मतलब है बहुमत का राज्य (majority Rule)। जो बहुमत का मंत्रीमण्डल बन जाता है तो फिर वह, जब तक ४-५ वर्ष बाद दूसरा चुनाव न हो, तब तक तो निशंक होकर इकडंडो राज्य करता है। बहुमत उसके पीछे होने से उसको कोई हटा नहीं सकता। अल्पमत वालों पर वह अपनी मनमानी करता है। यह प्रकारांतर से निरंकुशता ही तो है। क्या यह वास्तविक स्वराज्य है? गीताकार ऐसे एक दलीय राज्य को ठीक नहीं समझता। सच्चा स्वराज्य या सार्वजनिक राज्य तो जो गीता में बताया गया है वही है। यानी राज्याधिकारी, चाहे वह वंश परम्परागत हो या प्रजाद्वारा चुना हुआ—सारी प्रजा के साथ अपनी एकता के आत्म-भाव का अनुभव करता हुआ शक्ति और युक्ति से शासन करता है, वह सब का "स्व" होता है, इसलिए वही वास्तविक स्वराज्य और वही सुराज्य है। उन्नत समाज के लिए यही आदर्श राज्य व्यवस्था है।

तीसरा मित्र—तो क्या आप प्रजातंत्र राज्य को अच्छा नहीं समझते?

मैं—कम से कम वर्तमान परिस्थिति में, इस देश के लिए तो मैं उसे उपयुक्त नहीं समझता। मैंने अभी आप से निवेदन किया है कि प्रजातंत्र राज्य बहुमत का (majorityRule) होता है और देश में समझदार लोग थोड़े होते हैं। कम समझ के अधिक होते हैं, इसलिए बहुमत का राज्य कम समझ के लोगों का होगा। कम समझ की भोली जनता से, स्वार्थी लोग नाना प्रकार के हथकण्डों, जालसाजियों, जबानी जमाखर्च या हुल्लड़-बाजी से मत (vote) लेकर राज्य शासन के मालिक बन बैठते हैं और फिर अपनी मनमानी करते हैं। सब की एकता का अनुभव रखनेवाले, सर्वगुण सम्पन्न, योग्य और निस्वार्थी सज्जन यों ही बैठे रहते हैं। वर्तमान में इस देश के सर्वश्रेष्ठ अद्वितीय नेता पण्डित जवाहरलाल नेहरू को भी यह पक्का भरोसा नहीं है कि दूसरे चुनाव में "भारत का प्रधान मन्त्री" मै ही बना रह सकूँगा। ऊँचे से ऊँचे किसी राज्य अधिकारी को यह आत्मविश्वास नहीं है कि मै अपने पद पर स्थायी रूप से रह सकूँगा। सर्वोच्च अधिकारियों के ऐसे भाषण समाचार पत्रों मे आप लोग सदा पढ़ते ही हैं। यही शिकायत हमेशा बनी रहती है कि लोग अपनी जिम्मेवारी कुछ भी नहीं समझते। जनता का सहयोग बिलकुल नहीं है। राज्य प्रबन्ध का काम बहुत ही कठिन हो रहा है। इसीलिए ये लोग न तो कोई निश्चित नीति बना सकते हैं और न इस अस्थायीपन में पूरी तरह दिल जमाकर काम कर सकते हैं। एक प्रकार का दिशाभ्रम

हो रहा है। व कहाँ हैं इसका उन्हें पता नहीं। यही कारण है कि देश की आर्थिक दशा दिन-दिन बिगड रही है जिसको सुधारने के लिए कोई भी निशंक होकर जोरदार ठोस कदम उठाने का साहस नहीं कर सकते। सारा प्रबन्ध ढिलमिल हो रहा है। क्या यह राज्य की सुव्यवस्था है।

पहला मित्र—पंडित जवाहरलाल और सरदार पटेल आदि भी तो प्रजा द्वारा ही चुने हुए हैं।

मैं—जिस समय कांग्रेस इन लोगों के नेतृत्व में, अँग्रेजों से स्वराज्य की लड़ाई लड़ रही थी उस समय देश के पढ़े-लिखे लोगों की कांग्रेस पर बहुत श्रद्धा थी और मत देने का अधिकार थोडे से पढ़े-लिखे लोगों को ही प्राप्त था। जनसाधारण को मत देने का अधिकार नहीं था, इसलिए ये लोग चुन लिये गये; पर इनके साथ ही बहुत से ऐसे अयोग्य और स्वार्थी लोग भी चुन लिये गये जो केवल खादी की वर्दी पहनकर अँग्रेजों के विरुद्ध नारे लगाने मात्र की योग्यता के कारण कांग्रेस मे घुस गये थे और जिनकी करतूतों से अब ये अच्छे नेता लोग भी बहुत ही तंग आ गए हैं। अब, जब कि सब को मत देने का अधिकार प्राप्त हो रहा है और स्वार्थी लोगों के लिए मैदान खुला हुआ है तब योग्यतम नेता लोग आगामी चुनाव में सफल हो सकेंगे कि नहीं इस बात का स्वयं उनको भी पक्का विश्वास नहीं है।

तीसरा मित्र—पर निरंकुश अत्याचारी राजाओं के शासन से तो प्रजातंत्र शासन (Democracy) बहुत अच्छा होता है यह तो आप भी मानेंगे।

मैं—निस्संदेह। स्वेच्छाचारी और अन्यायी राजाओं की सामन्तशाही ने ही तो प्रजातंत्रवाद को जन्म दिया है। परन्तु यह प्रणाली वर्तमान में इँगलैंड और अमेरिका जैसे देशों के ही उपयुक्त सिद्ध हुई है, जहाँ की प्रजा अनेकबार क्रांति करके स्वतंत्र विचार करने में बहुत उन्नति कर चुकी है; जो अपने हित अहित का यथार्थ निर्णय कर सकती है और जो योग्य-अयोग्य व्यक्तियों की ठीक-ठीक पहचान कर सकती है। इस देश की प्रजा, वर्तमान समय में इतने अंधविश्वासों, रूढ़ियों, और जाति-पाँति के रीति रिवाजों के बन्धनों में फँसी हुई है कि वह किसी प्रकार का स्वतंत्र विचार ही नहीं कर सकती, न अपने भले-बुरे का यथार्थ निर्णय कर सकती है। नेताओं की योग्यता की पहचान करने लायक भी नहीं है। स्थिति पालकता मे ही मस्त है। यहाँ तक कि देश की स्वतन्त्रता का अर्थ भी वह नहीं समझती। भला ऐसी प्रजा-द्वारा किस तरह के लोग चुने जा सकते हैं, इस बात का अनुमान आप लोग सहज ही लगा सकते हो। अभी विधान परिषद् और व्यवस्थापिका सभाओं में चुने हुए लोगों को ही देखिए। विधान और व्यवस्थाएँ बनाने मे कानून के शब्दों की बाल की खाल खींचने में समय का कितना दुरुपयोग किया जाता है। इस तरह के थोथे वाद-विवाद मे प्रजा के वास्तविक

हित-अहित की उपेक्षा करके सभासद लोग अपनी विद्वत्ता दिखाने और अपने व्यक्तित्व को आगे बढ़ाने की धुन में ही लगे रहते हैं और इसीमे अपनी लीडरी के कर्तव्यों की इति श्री समझते हैं। यदि पंडित जवाहरलाल आदि नेता बीच में हस्तक्षेप करके इस फिजूल वाद-विवाद पर रुकावट न डालें तो इनका कोई अन्त ही नहीं आवे और विधान वनकर पार ही नहीं पड़े। इतना होने पर भी, जब यह विधान बन जायगा तब आप लोग देखेंगे कि जनता को कुछ भी पता नहीं लगेगा कि हमारे लिए क्या व्यवस्था बनो है। क्योंकि वह इतना जटिल होगा और शब्दाडम्बरों का इतना जाल होगा कि वकील कौंसिलियों के बिना इसका अर्थ निकालना असंभव होगा। फिर कोई वकील उसका कोई अर्थ निकालेंगे, कोई दूसरा और कोई तीसरा सदा झगड़े बने रहेंगे और कानूनी लोगों की लूट दिन प्रतिदिन बढ़ेगी। इस समय भी वकील कौंसिली लोग प्रजा का इतना शोषण करते हैं कि जिसकी कोई हद नहीं। कोई भी कानूनी काम वकीलों के बिना नहीं चल सकता। वकीलों के बिना अदालतें कोई सुनवाई नहीं करतीं। एक प्रकार से वकीलों का ही राज्य हो रहा है और इन लोगों ने अपनी फीस इतनी अनाप-शनाप कर रखी है कि साधारण लोग तो न्याय प्राप्त ही नही कर सकते हैं। इतनी वकीलों की लूट; फिर उसके ऊपर कोर्ट फीस और अदालतों के कर्मचारियों के इनाम आदि भी बहुत बढ़े हुए हैं। गरीब आदमी की तो पहुँच ही न्यायालय तक नहीं हो सकती। जिस राज्य-व्यवस्था में